प्रेमचन्द : मित्रों में

हिमांशु श्रीवास्तव

मूल्य—

दो रुपया पचीस नया पैसा

प्रकाशक

सी

हिमांशु श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण
सितम्बर '५८

मुद्रक
शिवशंकर लाल
आदर्श प्रिंटिंग प्रेस
पियरीकलाँ, वाराणसी

उन साहित्य-साधकों के नाम

जो प्रेमचंद को समीप से जानना चाहते हैं।

वक्तव्य

मुझे इस स्वीकारोक्ति में तनिक भी संकोच नहीं कि इस छोटी-सी पुस्तिका को तैयार करके मैंने प्रेमचन्द पर एक महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है। मुझे केवल यह निवेदन करना है कि इस पुस्तक की तैयारी की पृष्ठभूमि में मेरी यही अभिलाषा काम कर रही थी कि इसे पढ़कर लोग प्रेमचंद को अधिक समीप से जान सकेंगे। मैं प्रेमचंद-साहित्य के समर्थ पाठकों से यह कहना चाहता था कि वे एक महान रचनाकार के साथ ही एक महान व्यक्ति थे। महान रचनाकार होने के साथही महान व्यक्तित्व भी होना—साधारण बात नहीं है। मैंने यह विचार आरोपित करना चाहा है कि प्रेमचन्द अपने साहित्य में जिन सिद्धांतों एवं आदर्शों का निरूपण तथा प्रतिपादन करना चाहते थे, वे अपने संपूर्ण अस्तित्व के साथ उनके व्यक्तित्व में उतर आए थे—उनके पास खाने और दिखलाने के दाँत अलग-अलग, अलग-अलग रूप में नहीं थे।

अक्सर ऐसा कहा जाता है कि कलाकार से प्रत्यक्ष होने पर उसके प्रति आकर्षण का क्षय होने लगता है; किंतु जो लोग प्रेमचन्द से मिले एवं उनके निकट संपर्क में आए, उनके प्रति उनका आकर्षण बढ़ताही गया। उनकी महानता की परख के लिए किसी निष्कर्ष की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने अपनी निरंतर साधना से यह प्रमाणित कर दिया कि साहित्यकार की खाल ओढ़ने से साहित्य नहीं बनता, बल्कि साहित्य के शुभ-संकल्प को अपने जीवन में उतारना होता है और उसके लिए

साहित्यकार को अग्नि-परीक्षा देनी होती है। मैं नहीं कहता कि नई पीढ़ी के उपन्यासकारों ने हिन्दी-कथा-साहित्य को आगे नहीं बढ़ाया है। नई पीढ़ी के कितने ऐसे उपन्यासकार ईमानदारी से काम कर रहे हैं और उनकी चर्चा प्रेमचन्द के नाम के साथ की जा रही हैं, मगर इनमें कोई ऐसा कथाकार नहीं, जिनके व्यक्तित्व की तुलना प्रेमचन्द के साथ की जा सके। मैं चाहता हूँ कि हम न केवल उनकी प्रतिभा की परम्परा का प्रतिनिधित्व करें, बल्कि हम उनकी महानता का भी प्रतिनिधित्व करें—प्रेमचन्द का सच्चा और स्थायी स्मारक शायद यही होगा।

मेरा अनुमान है कि इस पुस्तक के अध्ययन से नई पीढ़ी के कथाकारों को प्रेरणा मिलेगी और उनकी प्रतिभा के प्रकाश से मात्र पुस्तकों के पृष्ठ नहीं, बल्कि उनका व्यक्तित्व भी महानता की ओर उन्मुख होगा। और, तभी मेरा परिश्रम सार्थक होगा।

इस पुस्तक में मेरा कोई मौलिक योग नहीं। प्रेमचन्द के समकालीन साहित्यकारों ने व्यक्तिगत भेंट में मुझे बहुत कुछ बतलाया। मैंने उन्हें मात्र लिपिबद्ध किया है। अनेक संस्मरणात्मक लेखों से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। एतदर्थ, मैं उन सभी महान साहित्यकारों के आगे हृदय से नतमस्तक हूँ।

हिमांशु श्रीवास्तव

"गोर्की के मरने की चर्चा वे कई दिनों तक करते रहे। जब-जब गोर्की के विषय में बातें करते, तब-तब उनके हृदय में एक दर्द-सा उठता दिखाई पड़ता। गोर्की के प्रति उनके हृदय में असीम श्रद्धा थी। वही उनका अंतिम भाषण था। गोर्की का कोई समकक्ष लेखक उनकी निगाह में नहीं आता था।"

—शिवरानी देवी (प्रेमचंद : घर में)

× × ×

"प्रेमचंदजी के सिवाय भारत की सीमा उल्लंघन करने की क्षमता रखनेवाला कोई दूसरा हिन्दी कलाकार इस समय हिन्दी जगत में विद्यमान नहीं है और आज भी, जब कि उनकी रचनाएँ अन्त-र्राष्ट्रीय कीर्ति प्राप्त कर चुकी हैं, मुझे यही वाक्य दुहराना पड़ता है।"

—बनारसीदास चतुर्वेदी (विशाल भारत—जनवरी, ३२)

संग-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वासविहीन रहें जीवित जन?

Seven rival towns contend for Homer dead,
through which the living Homer begged his bread,

जन-साहित्य का प्रकाश-स्तम्भ

उस व्यक्ति ने सन् १९०४ में जूनियर इंगलिश टीचर्स सर्टिफीकेट का इम्तहान अव्वल दर्जे में पास किया। उसके सर्टिफीकेट की तारीख पहली जुलाई १९०५ में, जिसपर मि० जे० सी० कम्पस्टर प्रिंसिपल और मि० वेकन इन्सपेक्टर मद्रास, एलाहाबाद सर्किल के दस्तखत हैं। ये शब्द उल्लेखनीय हैं:—

"Not qualified to teach mathamatics, conduct satisfactory and regular. He worked earnestly and well."

कलाकार ऊँचा नहीं होता, उसके आदर्श ऊँचे होते हैं। कलाकार में गहराई नहीं होती, उसकी भावनाओं में गहराई होती है। उस व्यक्ति का आदर्श जन-साहित्य के आकाश में एक महान् प्रकाश-पिंड था। भावनाओं के सागर की अंतरतम गहराई में उसकी भावुकता का ज्योति-पुंज चमक रहा था—जगमग-जगमग! भौतिकवाद का गणित उसे प्रभावित नहीं कर सका और संसार ने उसे जन-साहित्य का महान् प्रकाश-स्तम्भ मान लिया। और, यह महान् प्रकाश-स्तम्भ था पहले धनपतराय, फिर नवाबराय और इसके बाद प्रेमचंद!

लमही गाँव!

तू धन्य है!!

संवत् १९०७ में तुमने अपने यहाँ उपन्यास-सम्राट् को अवतरित किया।

—प्रेमचंद : मित्रों में—

अपनी आत्मकथा के 'जीवन-सार' शीर्षक में प्रेमचंद ने लिखा है:—

"मेरा जन्म संवत् १९०७ में हुआ। पिता डाकखाने में किरानी थे। माता मरीज, एक बड़ी बहन भी थी। उस समय पिताजी शायद बीस रुपए पाते थे। चालीस तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वह बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोलकर चलने वाले व्यक्ति थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गए। खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के ने मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल ही भर बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दर्जे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थीं, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो पूँजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी। मुझे अरमान था वकील बनने का और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस जमाने में भी इतनी दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप कर शायद दस-बारह की कोई जगह पा जाता ; पर यहाँ तो आगे पढ़ने की धुन थी— पाँव में लोहे की नहीं, अष्टधात की बेड़ियाँ थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।"

"पाँव में जूते न थे, देह पर साबित कपड़े न थे। महँगी अलग थी, २० सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वींस कॉलेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और बाँस के फाटक, एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, कभी वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात

को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने, कब खो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।"

प्रेमचंदजी ने अपने सम्बन्ध में 'जीवन-सार' नामक शीर्षक में लिखा है :—

"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है; जिसमें गड्ढ़े तो कहीं-कहीं हैं; पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है।"

अपनी विमाता से प्रेमचंद को कभी प्यार न मिला और ऐसे वास्तविक प्यार के लिए उनका जीवन-घट हमेशा रीता ही रहा। कानपुर से प्रकाशित होने वाले उर्दू पत्र 'ज़माना' में श्री रघुपतिसहाय 'फ़िराक़' ने प्रेमचंद के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था। वे लिखते हैं :–

"इस तबका के दूसरे लड़कों की तरह प्रेमचंद भी हाईस्कूल में दाखिल हो गए। उनकी तालीम इब्तदाई दर्जों को छोड़कर गोरखपुर के मिडिल स्कूल में शुरू हो गई, जहाँ उनके वालिद मुलाज़िम थे। प्रेमचंद ने मुझे बताया कि लड़कपन में उनकी दोस्ती अपने दर्जे के एक लड़के से हो गई, जो तंबाकूफ़रोश का बेटा था। रोज़ाना वे अपने कम-उम्र दोस्त के साथ स्कूल के बाद उसके मकान पर जाते थे। वहाँ तंबाकू के बड़े-बड़े स्याह पिंडों के पीछे तंबाकूफ़रोश और उसके अहबाब बैठकर हुक्का पीते और 'तिलस्मे होशरूबा' पढ़ते थे।"

"—यहाँ प्रेमचंद अपने कमसीन दोस्त के साथ बैठकर तिलस्मे होशरूबा के अफ़साने सुनते थे। यहाँ तक कि शाम हो जाती, जब वे अपने घर चले जाते। यह सिलसिला तकरीबन् एक साल जारी रहा। लेकिन, आसना में प्रेमचंद हमेशा के लिए रूमानी कहानियों में डूब गए। दरहकीकत इन किस्सों और कहानियों को जिस दिलचस्पी और इश्तयाक़ से उन्होंने सुना था, इससे उनके कुव्वते-बयान में रवानी

वजाहत के अंदाज़ जज्ब हो गए और इन लजीज हिकायतों की रूह उनमें तहलील हो गई। कुछ दिनों के बाद यही कुव्वतें प्रेमचंद की तसानीफ किस हुस्न से फली-फूलीं।"

प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य के प्रति जो गहरी दिलचस्पी रखते हैं, उनके लिए यह लिखना नई बात नहीं होगी कि वे जन्मजात संघर्ष-शील और प्रगतिशील थे। संकीर्णता उनके जीवन के किस कोने में बैठी थी—यह नहीं कहा जा सकता। अपनी मर्जी के खिलाफ तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रेमचंद की जिस समय शादी हुई उस समय वे केवल पन्द्रह साल के थे। अपनी पहली पत्नी से वे पूर्णतया असंतुष्ट थे। निश्चय ही, यदि अपने जीवन और भविष्य के प्रति पूरी जानकारी की चेतना रहने पर उनकी शादी, उस स्त्री से होने को होती, तो वे अस्वीकार कर दिये होते। यह बात उनकी प्रगतिशीलता का ही प्रतीक है कि पहली पत्नी के होते भी, कुछ रोज बाद आपने बाल-विधवा (शिवरानी देवी) से शादी की। अपनी पहली पत्नी से वे कितने असंतुष्ट थे, इसका उदाहरण श्रीमती शिवरानी देवी ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद : घर में' में दिया है :—

शिवरानी देवी से प्रेमचंदजी ने बतलाया, "मेरा विवाह बस्ती ज़िले की मेंहदावल तहसील में रामपुर गाँव में ठीक हुआ। वे भी अपने घर के जमींदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर में लोगों ने बुलाया, तब सैकड़ों स्त्रियाँ घर में थीं। हँसी-मज़ाक का बाजार गर्म था। पुरुषों के नाते तो मैं ही एक था। मुझे हँसी-मज़ाक अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हँसी-मज़ाक करती थीं। मैं अकेला उनसे परेशान था। ख़ैर, किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की विदाई का समय आया। कई रोज का अरसा हो गया था। ऊँट गाड़ी से आना पड़ा। जब हम ऊँट गाड़ी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा

हाथ पकड़कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर में वह मुझसे ज्यादा थी। मैंने उसकी सूरत देखी, तो मेरा खून सूख गया।"

इस पर शिवरानी देवी बोलीं, "ठीक तो थीं। तुम भी सीधी गरीब को पाकर अपने को कुछ लगाते हो!"

प्रेमचंद बोले, "नहीं जी, बेशर्मी मुझे पसन्द न थी। जो जितनी ही दूर रहता है, उसे उतना ही देखने के लिए दिल में कुतूहल होता है।" नहीं कहा जा सकता कि श्रीमती शिवरानी देवी की अंतश्चेतना में प्रेमचंद की पहली पत्नी के प्रति प्रेम था अथवा घृणा। क्योंकि इन पंक्तियों के लेखक की ऐसी धारणा है कि मनुष्य का शारीरिक रूप भले ही एक हो, किन्तु बौद्धिक रूप में जीवन के प्रत्येक क्षण में विविधता की गुंजाइश रहती है। मनुष्य जो दूसरों से कहता है, वही करता भी है—यह आवश्यक नहीं। मैं नहीं मानता कि मनुष्य जो भी सोचता है, उसे सबके सामने मुक्त-हृदय से कह भी देता है। किंतु, मेरा मतलब यह नहीं कि शिवरानी देवी के हृदय में प्रेमचंद की पहली पत्नी के प्रति घृणा का भाव था!

इसी वार्तालाप के क्रम में एक जगह शिवरानी देवी ने प्रेमचंदजी से कहा, "आप पुरुष थे, आप मुझे ब्याह लाये, वे तो घर में बैठी हैं। यह क्या स्त्रियों के साथ अन्याय नहीं है? मैं भी बदसूरत होती, तो आप मुझे भी छोड़ देते। अगर मेरा वश होता, तो मैं सब जगह ढिंढोरा पिटवाती कि कोई भी तुम्हारे साथ शादी न करे।"

प्रेमचंद जी बोले, "इसीलिए तो तुम्हें मालूम न हुआ। पहले किस्सा भी तो सुनो। पीछे गरम होना। मेरी बारात आई। मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीबी बहुत बदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली। यह मेरी शादी चाची के पिता ने ठीक की

थी। पिताजी चाची से बोले—'लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। अफसोस! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री! मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा।' चाची ने कहा—देखा जाएगा।'

जो भी हो, हमें यह मानना पड़ेगा कि उनकी पहली पत्नी के व्यक्तित्व में प्रेरणा-सुलभ-गुण का सर्वथा अभाव था, जिस अभाव के कारण प्रेमचन्द का विकास रुकना किसी भी समय संभव था। तभी तो उन्होंने एक जगह लिखा है—"मैं विवाह को आत्म-विकास का साधन समझता हूँ। स्त्री-पुरुष के संबंध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है। वरना, मैं विवाह को कोई जरूरत नहीं समझता।"

प्रेमचंद ने अपने जीवन-काल में बहुत ही सस्ते-महँगे पापड़ बेले थे। इसकी चर्चा प्रेमचंद पर लिखी गई अन्य पुस्तकों में मिलेगी। अध्यापकी के बाद वे इन्स्पेक्टर हो गए थे और पेचिश की बीमारी से परेशान रहते। एक जगह वे लिखते हैं:—

"फंकियाँ खायीं, पेट पर गर्म बोतल फेरी, जामुन का अर्क पिया। देहात में जितनी दवाएँ मिल सकती थीं, मगर दर्द कम न हुआ! दूसरे दिन से पेचिश हो गई। मल के साथ आंव आने लगी, लेकिन दर्द जाता रहा।"

उस समय देश की जो परिस्थिति थी, उससे प्रेमचंद वंचित न रहे। बल्कि, यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उन सारी परिस्थितियों का अत्यधिक प्रभाव उनके साहित्य और व्यक्तित्व पर पड़ा। किसानों पर अत्याचार किये जा रहे थे। प्रेमचंदजी ने इसी समय नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और इस महान् जन-संघर्ष में अपने को शामिल कर दिया। मुंशी दयाराम निगम के कथनानुसार इन्होंने फरवरी, १६२१ में त्याग-पत्र दिया। लेकिन इस संबंध में प्रेमचंद एक जगह लिखते हैं:—

"........यह सन् १६२० ई० की बात है। असहयोग आंदोलन जोरों पर था। जलियाँवाला बाग का हत्याकांड हो चुका था। इन्हीं दिनों महात्मा गाँधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाज़ीमियाँ के मैदान में अच्छा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी, ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ-जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।"

इसके बाद काल-क्रम से प्रेमचंद प्रकाशक हुए, फिर अपना प्रेस किया। फिर सपादक हुए। 'हंस' का प्रकाशन किया। खुद अबतक कई किताबें छाप ली थीं। 'हंस' और 'जागरण' नामक पत्रों का प्रकाशन हो ही रहा था। घाटा बड़ा गहरा लगा। इसके बाद फिसर कंपनी की ओर से ऑफर आया, तो बंबई चले गए। फिल्म में जाकर वे वहाँ के वातावरण और अधिकारियों से पूर्णतया असंतुष्ट रहे और कुछ ही रोज के बाद वहाँ से लौट आए।

जीवन में बहुत ही ऊँच-नीच देखने के बाद, संसार के नाम अपने साहित्य द्वारा अमर संदेश देकर हमारे प्रेमचंद ने ८ अक्टूबर, १६३६ में इस संसार को सदा-सदा के लिए छोड़ दिया। और, एक हम हैं जो साहित्य के इस महान् शहीद का जीवन-काल में उनका उचित सम्मान नहीं कर सके। जन-साहित्य का वह अच्चम्य प्रकाश-स्तम्भ जीवन भर अपने को जला-जलाकर हमें प्रकाश देता रहा। हम उनकी महानता को आँक नहीं सके। हमारी अकर्मण्यता ने हमें किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना दिया और वे हमारे बीच से चल बसे।

—प्रेमचंद : मित्रों में—

हम सज्जित हृदय से उनकी महानता के आगे नतमस्तक होते हैं!
हम भरे हृदय से उनका अभिनंदन करते हैं!!
हम विश्व के कोटि-कोटि जन-हृदय की ओर से कहते हैं,
प्रेमचंद, तुम्हारी कीर्ति पताका हमारा मार्ग-निर्देश करे!!!

—:***:—

साहित्य का उद्देश्य

[सन् १९३६ ई० में लखनऊ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन हुआ था। प्रेमचंद-जी उस अधिवेशन के प्रधान थे और सभापति के पद से उन्होंने जो उपर्युक्त शीर्षक से भाषण किया था, वह नीचे दिया जा रहा है। साहित्य का श्रेय और प्रेम किस प्रकार जन-जीवन के लिए कल्याणप्रद है, इस पर हमारे भारतीय साहित्य-सम्राट् ने अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया है।]

सज्जनों,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अबतक आमतौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिंदी का जो आरंभिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किंतु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने—रास्ता साफ करने वालों ने—हिंदुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम कृतज्ञ न हों, तो यह हमारे लिए कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरंभ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरंभ में 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गई है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी, पर उन्होंने जिस भाषा की दाग-बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल-चाल से हम अपने करीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है और अगर उसके बयान में सचाई है, तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं।

परंतु, मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब-का-सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्णरूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हों, पर अब उनमें हमारे लिए

बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें संदेह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार, राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है और सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है, परंतु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे, जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलोबुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके *उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये-अजायब की* दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चंद्रकांता-संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। 'कहानी' कहानी है, 'जीवन' जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौंदर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई शब्द-योजना, नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना

(=घोंसला) और क़फ़स (पिंजरा), बर्क़ (=बिजली) और खिरमन (=खलियस) की कल्पनाएँ विरह-दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस खूबी से दिखायी जाती थीं कि सुनने वाले दिल थाम लेते थे। और, आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोकप्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्संदेह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होने वाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया के कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव-संबंधी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से संबंध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकती और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानी की हवस तो हरएक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही उनकी जीविका का साधन थी। और कविता की क़द्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते।

साहित्य अपने काल का प्रतिबिंब होता है। जो भाव और विचार लोगों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म या वैराग में मन रमाते हैं। साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और श्रृङ्गारिक भावों का प्रतिबिंब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है। और, उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी न रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

परन्तु, हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। वह अब केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं या जो कुछ हमपर गुजरती है, वही अनुभव और

वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं।

पुराने जमाने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब साहित्य ने यह सब काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौंदर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौंदर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसमें सौंदर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावशाली होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता के बदौलत, उसके सौंदर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की शक्ति से वार करता है। तो कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत या उसकी वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के

सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर, साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी संभव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है, पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौके पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है, अपनी सहज सहानुभूति और सौंदर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासंभव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही संतोष नहीं होता कि मनो-विज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं, बल्कि हम यह इतमीनान चाहते हैं कि ये सचमुच मनुष्य हैं और लेखक ने यथासंभव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है, क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कर्मों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते, हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि

की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है अथवा अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसीमें है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे। हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनंद और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था में जाने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमजोरियाँ हैं, वह मर्ज की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंक-कर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसलिए हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और, हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारे कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौंदर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम

की विस्तृत है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती है। कलाकार इसमें सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अंदर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर, जब तक कलाकार खुद सौंदर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौंदर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा लगता है, क्योंकि सौंदर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका—संदेह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगंधि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल नादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं—यही सौंदर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वर-साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात के संयोग से हुई है. इसलिए हमारी आत्मा सदा उस साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य, कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौंदर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह इसमें वफादारी, सच्चाई, सहानुभूति, न्याय-प्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है। जहाँ इनका अभाव है, वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव—विरोध,

प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिन्ह है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे संभव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमंडल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने-आप हवा और रोशनी से भर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और भावमय बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं! साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है, दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ' यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, अगर उसका यह स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अंदर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखायी नहीं देती। इसलिए, वर्त्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे। क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई

पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है; पर शायद इस विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है; इसलिए साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तिकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अंतर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गए, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के ये भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं, अगर वे हममें हरकत और गर्मी नहीं पैदा कर सकतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना ही कि हम उनकी विरह-व्यथा पर रोयें, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी जमाने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो; पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का जमाना अब नहीं रहा।

अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का संदेश हो। अब तो हजरते इक़बाल के साथ हम भी कहते हैं—

रमज़े हयात जोई, जुज़ दर तपिश नयाबी,
दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जू रा।
ब आशियाँ न नशीनम ज़े लज़्ज़ते परवाज़,
गहे बशाखे गुलम, गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य को खोज है, तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं,—कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः, हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करता है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी। आसमान पर छायी लालिमा निस्संदेह बड़ा सुन्दर दृश्य है, परंतु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो हमें प्रसन्नता देने वाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटायें देखकर ही आनंदित

होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनंद होता है कि उनसे फलों की आशा होती है, प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनंद मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परंतु, सौंदर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल-गान सुनता है, तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है, परंतु एक दूसरा मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बंधुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरंभ से ही आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म-प्रवर्त्तकों ने धार्मिक नैतिक और आध्यात्मिक बंधनों से इस स्वप्न को सत्य बनाने का सतत्, किंतु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद आदि सभी पैगंबरों और धर्म-प्रवर्तकों ने नैतिकता की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही, पर किसी को सफलता न मिली और आज छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है।' इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नैतिकता का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम अपने इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ? तब तो

मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरंभ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी पूर्ति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सच्चाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान मे कदम रखना है। हमें एक ऐसे नए संगठन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बंधनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इसकी चिंता करता भी था, तो इनका मजाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेष-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए उसका शीन-काफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं—यह कला के कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है,—

व्यक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुन्दर स्त्री है,—उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है, उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियों पड़े हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ ?

पर, यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौंदर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय, तो वह देखेगी कि रंगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफरत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है। और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाइयों से मिलने की इच्छा का, आत्म-हत्या का। उसे तो इकबाल के साथ रहना होगा—

अज् दस्ते, जुबूने मन जिब्रील ज़बू ं सैदे,
यज़दाँ बकमन्द, आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है। यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ रहा हूँ।]

और, यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायगा, सारी सृष्टि जब उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग की चहारदीवारी न होगी, किंतु वह वायुमंडल होगा, जो सारे भू-मंडल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी अवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न हो जायँगे, किंतु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौंदर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं,—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है और बड़े-बड़े अमीर और मंत्रिमंडल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं, परंतु हिंदुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आंदोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो, जो समाज में हो रही हैं,—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही,—जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की

आवश्यकता नहीं,—आध्यात्मिक उच्चता ही काफी है। तो महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता: पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगायी हैं और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भागवत-सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धांत और विधियाँ निश्चित कर दी गई हैं; मगर आज जो हिंदी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्तिमात्र काफी समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाजशास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसके विशेष अंग बन गई हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किंतु उसे समाज के एक अंग-रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधन का औजार बनाये,—मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उनपर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस

मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य न समझेंगे, जो समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे स्वार्थ-साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसंद न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निजी लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में क्यों न प्रवेश करे,—उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उनमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं, तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशु बुद्धि और तेज कलम काफ़ी है; पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मानदंड ऊँचा करना होगा, जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही संतोष न करें, किंतु खुद भी उस पूँजी को बढ़ायें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेना चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिंदगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है, पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच

सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे, जो जमीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अंतर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं, जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा ही अपने जीवन की सार्थकता मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिंता हमें क्यों सताये? और, उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनंद है, वही हमारा पुरस्कार है—हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उसपर रोब जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें? हम भी समाज का झंडा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिंदगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं,—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है—

मर्दम आजादम आँगूना ग़यूरम कि मरा,
मी तवाँ कुश्त व यक जामे ज़ुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आजाद हूँ और इतना हमादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धांतों के साथ कर्म-क्षेत्र

में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखा-पेक्षी बना रहना उसे पसंद नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का संदेश-वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव-सौंदर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाही ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहनेवाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है; जो जन-साधारण का है; वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायुमंडल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केंद्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियमपूर्वक विचार हो, निबंध पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायुमंडल तैयार होगा। तभी साहित्य में नव युग का आविर्भाव होगा।

हम हरएक सूबे में, हरएक ज़बान में, ऐसी परिषदें स्थापित करना चाहते हैं, जिनमें हरएक भाषा में अपना संदेश पहुँचा सकें। यह सम-झना भूल होगी कि यह हमारी कोई नई कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत की हरएक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँखुए भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना एवं उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्म-शक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सच्चाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बंद कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था; क्योंकि अकसर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई

आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पियो, मौज करो' का क़ायल हो। ऐसा स्वच्छन्दाचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखनेवाले के लिए इसकी संभावना नहीं।

जो हो, जबतक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुनाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तबतक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की सामग्री नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो,—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

—:—

महानता के प्रकाश-पुंज

निःस्पृह भाव से जीवन भर राष्ट्रभारती की सेवा करनेवाले आचार्य शिवपूजन सहाय ने उपन्यास-सम्राट् स्वर्गीय प्रेमचंदजी के बारे में कई अमूल्य संस्मरण लिखे हैं। लेकिन, समय पर उन सामग्रियों को उपलब्ध न कर सकने के कारण इन पंक्तियों के लेखक को व्यक्तिगत तौरपर आचार्य सहायजी से प्रेमचंदजी के संबंध में दुर्लभ बातें जानने का अवसर मिला।

मेरे एक प्रश्न के उत्तर में आपने बतलाया कि प्रेमचंदजी से मेरी पहली भेंट हिंदी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता में हुई। उनके कलकत्ते में उपस्थित होने की सूचना मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने दी। मैं पहलीबार वहीं मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव, पं० चन्द्रशेखर पाठक और मतवाला-संपादक श्री महादेव सेठ के साथ उनसे मिला।

मेरा एक प्रश्न था, "क्या आप और प्रेमचंदजी ने किसी साहित्यिक अथवा प्रकाशन-संस्था में सहकर्मी के रूप में काम भी किया था?"

आचार्य शिवपूजन सहायजी ने कहा, "हाँ, 'माधुरी' के संपादन-विभाग में हम दोनों ने काम किया था।"

प्रेमचंदजी किस प्रकार लिखते थे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सहायजी अति प्रसन्न होकर बोले, "वे एक शांतिपूर्ण कमरे में बैठकर लिखते थे। उनके लेखन-कार्य के सुगमतापूर्वक संपादन होने में उनकी

धर्मपत्नी शिवरानी देवी बहुत सहयोग देती थीं। प्रेमचंदजी नियमित रूप से रोज लिखा करते थे और उनका जब लिखने का समय होता, इसके पहले शिवरानीजी उनके कमरे में वे सारे सामान यथास्थान रख देतीं, जिनसे वे लिखते थे। वे बिछावन पर मसनद के सहारे बैठकर लिखते थे। शिवरानी देवी उनके तंबाकू पीने की समुचित व्यवस्था करतीं। एक चिलम का तंबाकू समाप्त होते-होते वे झट दूसरी चिलम तैयार कर देती थीं,"—इस क्रम में श्री सहायजी ने बतलाया कि शिवरानी देवी की वे सेवाएँ मैं भूल नहीं पाता हूँ। अपनी आमदनी की सारी रकम प्रेमचंदजी उनके हाथों पर रख देते और वे घर का सारा प्रबंध स्वयं कर लेती थीं! प्रेमचंदजी यह भी नहीं जानते थे कि घर में क्या घटा और क्या बढ़ा।"

आचार्य शिवपूजन सहायजी ने खेद प्रकट करते हुए कहा, "आजकल तो बिरले ही किसी साहित्यकार को वैसी धर्मपत्नी मिलती होगी या मिल सकती है।"

मैंने प्रश्न किया था, "क्या वे अपनी रचनाएँ आपको पढ़कर सुनाया करते थे?"

आपने उत्तर दिया, "हाँ, जब कभी वे नई कहानी लिखते, तो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजने के पूर्व मुझे और साथ के अन्य साहित्यकारों को स्वयं पढ़कर सुनाते थे। कहते, "देखिए, यही नई कहानी लिखी है। अखबार में छपने के लिए भेज रहा हूँ।" 'जागरण' के लिए वे जो टिप्पणियाँ लिखते, उसे भी बड़े प्रेमपूर्वक सुनाया करते थे। उनमें एक सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वे जो कुछ लिखते थे, उसमें काटते बहुत कम थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, वे अपनी पांडुलिपियों में शायद ही कहीं-कहीं कुछ काटते या परिवर्तन करते थे।"

मैंने प्रश्न किया, "क्या वे आपसे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के विषय में भी बातें करते थे ?"

मेरे प्रश्न के उत्तर में आपने शीघ्र ही कहा, "हाँ, वे कहते थे कि मैं हिंदी में एक ऐसा दैनिक पत्र चाहता हूँ, जिसमें प्रतिदिन की अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक प्रगति की बातें प्रकाशित हों। इससे लाभ यह होगा कि हमारा साहित्यिक समाज संसार की दैनिक साहित्यिक गति-विधि से परिचित होकर उससे प्रेरणा और सुझाव प्राप्त करेगा।"—श्री सहायजी के कथनानुसार शायद यह महत्त्वाकांक्षा प्रेमचंद की अन्यतम महत्त्वाकांक्षाओं में प्रधान थी।

आपने आगे बतलाया, "प्रेमचंद की यह भी महत्त्वाकांक्षा थी कि संसार में जितनी भाषाओं के श्रेष्ठ उपन्यास हैं, उन सबों का अनुवाद सीरीज़ के रूप में प्रकाशित हो। यह उनकी इस महत्त्वाकांक्षा का ही प्रतिफल था कि 'हंस' में 'मुक्ता-मंजूषा' शीर्षक के अंतर्गत देशी-विदेशी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं से हिंदी पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक सामग्री संकलित करके अनुवाद किया जाता था। प्रेमचंदजी के आदेशानुसार मुझे भी इस कार्य में योग देना होता था और इसमें मुझे सुख मिलता था—प्रसन्नता होती थी।"

प्रेमचन्दजी की शालीनता और सरलता के सम्बन्ध में पूछे गए एक प्रश्न का उत्तर देते हुए आपने कहा, "कभी कभी ऐसा होता कि शाम को प्रेस से घर लौटते वक्त उनके पास इक्के के भाड़े के लिए पैसे नहीं रहते थे। लेकिन वे इससे तनिक भी खिन्न नहीं होते, बल्कि वे बड़े जोरों से ठहाके लगाकर कहते, "आज इक्के के भाड़े के लिए पैसे भी नहीं हैं।" और वे पाँड़ेपुर पिसनहरिया तक पैदल जाते थे। काशी का लखीचबूतरा प्रसिद्ध है। शाम होने पर घर लौटते समय वे वहीं एक तंबोली की दूकान से पान की ढोली खरीदते, तंबाकू लेते और खाते

की डंडी में लटकाकर चुपचाप लमही का रास्ता लेते थे। अभावों में भी वे बड़े प्रसन्न रहते थे। खूब ठहाके लगाते थे। अभाव के क्षणों में भी उनकी मुखाकृति पर विषाद की रेखा मैंने कभी नहीं देखी। यों तो प्रेमचन्दजी निर्विवाद महान थे। उनकी महानता तक पहुँचना बहुत कठिन है। वे अपनी रचनाओं में जिस प्रकार के स्वच्छ, आदर्श और मानवता से परिपूर्ण सिद्धांत निरूपित करते थे, अपने व्यावहारिक जीवन में अक्षरशः उनका प्रतिपादन भी करते थे। उनकी महानता की कई बातों को मैं भूल नहीं पाता हूँ। एक उदाहरण लीजिए—प्रेस में आमदनी बहुत कम होती थी। जैसा कि आप आज भी देखते हैं, मजदूर-वर्ग को दैनिक खर्च की आवश्यकता होती है। उन्हें दो रुपए, एक रुपया चाहिए ही। उन दिनों भी प्रेस-मजदूरों का यही हाल था। मजदूर शाम होते-होते प्रेमचन्दजी से पैसे माँगना शुरू कर देते। मुझे याद नहीं है कि इसके बदले उन्होंने किसी मजदूर को निराश किया हो, या फटकार बतलायी हो। मैंने अनेकों बार देखा कि ऐसे अवसरों पर वे ड्रावर से प्रेस की सारी दैनिक आमदनी निकालकर टेबुल पर रख देते और अपने मजदूरों से कहते, "बस, आज की आमदनी यही है। इसमें से तुम लोग सुविधानुसार आपस में बाँट लो, और मेरे लिए सिर्फ पान और तंबाकू के पैसे छोड़ दो।" निश्चय ही प्रेमचन्दजी के उस कथन और कर्म में किसी प्रकार का व्यंग्य अथवा उपहास नहीं रहता था। बल्कि उनके स्वर में परम आत्मीयता होती थी। कभी-कभी वे प्रेस के फोरमैन को ही बुलाकर उसके आगे दिन भर की सारी आमदनी रख देते और उसे आदेश करते थे कि वह मजदूर भाइयों में उन्हें बाँट दे, सिर्फ अपने लिए पान और तंबाकू के पैसे दे दे।"

मेरे एक प्रश्न के उत्तर में आपने कहा, "श्री मुहम्मद अली (हमदर्द) के संपादक थे। अंग्रेजी भाषा में इसका अनुवाद (कॉमरेड)

नाम से प्रकाशित होता था। समय-समय पर इसमें प्रेमचन्दजी की कहानियाँ प्रकाशित होतीं और जनाब अली साहब उनके पारिश्रमिक स्वरूप, घड़ी वाले रेशमी केस से प्रत्येक रचना के प्रकाशन पर एक अशर्फी पार्सल से भेज दिया करते थे।"

मैंने प्रश्न किया, सफल साहित्यकार होने के लिए क्या-क्या आवश्यक है ? क्या प्रेमचन्दजी ने आपसे इस विषय पर भी प्रकाश डाला था ?

आपने उत्तर देते हुए कहा, "हाँ, प्रेमचन्दजी कहते थे—वही साहित्यकार सफल होगा, जो अर्थ के अभाव काल में भूखों मरने को तैयार हो, अभावों के कष्ट को सहनशीलता पूर्वक अपना सके, जो संपादकों और प्रकाशकों से ठोकर खाने की क्षमता रखता हो, मगर निराश न हो। वही साहित्यकार अपने क्षेत्र में सफल होगा, जो दूसरो के द्वारा अपने साथ किये गए दुर्व्यवहारों की चिन्ता न करेगा।"

मेरा एक प्रश्न था, "क्या वे नए लेखकों से दिल खोलकर मिलते थे ?"

आपने उत्तर दिया, नए लेखकों से वे बड़ी दरियादिली के साथ मिलते थे और उस समय यदि कोई पुराना नामी साहित्यकार आ जाय, तो दिल खोलकर दोनों का परिचय कराते थे।

मैंने प्रश्न किया, "हिन्दी साहित्य के भविष्य के बारे में उनके क्या विचार थे ?"

आचार्य सहाय ने उत्तर दिया, "उनका विचार था कि हिन्दी साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। लेकिन हिन्दी के साहित्यकारों के लिए शर्त्त यह होनी चाहिए कि तत्कालीन समाज का जो चित्र हो, वे उसे उसी रूप में चित्रित करें; किन्तु साहित्य की सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए; प्रेमचन्दजी हिन्दी साहित्य को आज

अन्तर-भारतीय स्तर पर नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने की नजर से इसके भविष्य के विषय में अपने विचार व्यक्त करते थे। वे सस्ते प्रकार के साहित्य-सृजन के पक्ष में कभी नहीं थे। वे चाहते थे कि हमारे साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि करें कि यदि उनका अनुवाद देश की अन्य भाषाओं या अन्य विदेशी भाषाओं में हो, तो वे हमारी साहित्यिक चेतना की सुस्पष्ट मर्यादा के प्रति आकर्षित हों और उचित आदर दें।

मैंने अन्तिम प्रश्न किया, "क्या प्रेमचन्दजी अपनी आलोचना पढ़कर झुँझलाते थे और जब उनके विरुद्ध आलोचना लिखने वाले मिलते, तो उनके साथ सहृदयता पूर्वक नहीं मिलते थे?"

आचार्य शिवपूजन सहाय ने कहा, "नहीं, प्रेमचन्दजी अपने विरुद्ध आलोचना पढ़कर कभी नहीं झुँझलाते थे, बल्कि मुक्त हँसी के स्वर में उसे उड़ा देते थे। अपने विरुद्ध आलोचना लिखने वालों से जब भेंट होती, तो वे इस बात की चर्चा भी नहीं करते थे कि उन्हें वह आलोचना पढ़ने को मिली है या वे उस आलोचना से सहमत अथवा असहमत हैं, बल्कि अपने आलोचकों से मिलने पर उनकी सहृदयता और महानता द्विगुणित हो उठती थी।"

वे बड़े प्रेमी थे

"भैया, मैं आपसे एक बात जानना चाहता हूँ।"

"बड़ी अच्छी बात है। क्या जानना चाहते हो?"

"मान लीजिए, एक लड़का है और एक लड़की। किशोरावस्था में दोनों में बड़ी घनिष्ठता थी। बड़ा प्रेम था। उनका प्रेम ऐसा था कि वे दोनों इस बात की कल्पना नहीं करते थे कि वे कभी बिछुड़ भी जायँगे। और, मान लीजिए कि सामाजिक बंधनों और परिस्थियों के कारण दोनों एक दूसरे से बिछुड़ गये। लड़की की शादी किसी दूसरे युवक से हो गई। और शादी के बाद बीसो साल गुजर गए। अलग-अलग दोनों की जीवन-धारा बदल गई। फिर संयोगवश, कभी उन दोनों की आपस में भेंट होती है। तो, ऐसी परिस्थिति में उस लड़की के प्रति लड़का चाहे जो सोचे, मैं जानना चाहता हूँ कि लड़की के हृदय में लड़के के प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होगा या घृणा का या किसी खास प्रकार का भाव पैदा होगा ही नहीं?"

यह प्रश्न किया था पं० देवनारायण द्विवेदी ने, स्वर्गीय उपन्यास सम्राट् प्रेमचंदजी से। पं० देवनारायण द्विवेदी ने बतलाया कि वे प्रेम-चंदजी को 'भैयाजी' कहकर संबोधित करते थे उनका यह प्रश्न सुनकर प्रेमचंदजी बड़े गंभीर हो गए। लगातार दो मिनट चुप रहने के बाद

प्रेमचंदजी बोले,"द्विवेदी, तुमने तो मनोविज्ञान का एक टेढ़ा सवाल कर दिया।"

"लेकिन, मेरा विश्वास है कि आपके लिए यह प्रश्न अधिक कठिन नहीं पड़ेगा।" देवनारायण द्विवेदी ने कहा। और, तब प्रेमचंदजी ने कहा, "तुमने उनकी जो परिस्थिति मेरे सामने रखी है, उसके अनुसार लड़के के प्रति लड़की के हृदय में प्रेम की जगह घृणा का भाव ही उत्पन्न होगा।"

अबतक सरस्वती प्रेस खुल चुका था। प्रेस के संबंध में पूछे जाने पर प्रेमचंद ने बतलाया, "मत पूछो, इस प्रेस की स्थापना कैसे हुई। कुछ रुपये मेरे पास थे। कुछ रुपये मेरे छोटे भाई, महताब राय ने दिए और कुछ रुपये मेरे एक रिश्ते के भाई ने दिए। वे पुलिस की नौकरी में थे और रिटायर्ड होते समय उन्हें कुछ रुपये मिले थे। लेकिन शुरू में प्रेस की हालत बहुत खराब थी। मैं तब काशी में नहीं रहता था। मुझे प्रेस देखने के लिए रोज लमही से काशी आना होता। एक छोटी मशीन करली थी। कम्पोजीटर भी थे। मगर, प्रेस की ओर से आमदनी के नाम पर पैसों के दर्शन न होते थे। बड़ी बेइज्जती का सामना करना पड़ता था। ग्राहक अक्सर नाराज होकर लौट जाते थे।"

"सो कैसे ?" देवनारायण द्विवेदी ने पूछा।

प्रेमचंदजी बोले, "मान लो, कोई ग्राहक अपना बिल-बुक छपवाने के लिए दे गया। मैटर तो मैं अपने यहाँ कम्पोज करा लेता, स्वयं प्रूफ भी देख लेता। मगर यह सब हो जाने के बाद मैटर छापने के लिए तत्काल कागज की जरूरत पड़ती। पास में पैसे नहीं कि बाजार से कागज खरीदकर मँगवा लेता। यह दूसरी बात है कि ग्राहक उसकी क़ीमत दे देता। मगर, ग्राहक तो तभी पैसे देता, जब हम उसका बिल-बुक छापकर रखते, वह आता और फिर हमारे बिल का चुकता करता।

यहाँ तो कागज ही नदारद ! कागज की कमी के कारण कई वादे फेल करते। और, ग्राहक अलग नाराज होता। मैं बार-बार तरह-तरह के बहाने करता। इस अभाव के कारण तो कई बार ऐसा हुआ कि ग्राहक अपना काम नाराज होकर वापस ले गए। लमही से जब आठ बजे शहर चलने को होता, तो घर के बच्चे आकर सामने खड़े हो जाते और फिर उनकी तरह-तरह की फरमाइशें होने लगतीं। कोई लौटती दफा अपने लिए खिलौने लिए आने के लिए कहता। कोई तीन पहियों वाली साइकिल माँगता और मैं सबों को हाँ, हाँ, कहकर शहर की ओर चल पड़ता था। दिनभर प्रेस में सर खपाने के बाद एक पैसे से भेंट नहीं। बड़ी परेशानी होती थी। बच्चों से जाकर किस प्रकार मुँह दिखलाऊँगा। इसके बाद मैंने एक उपाय सोच लिया। अब अक्सर अधिक रात बीतने पर घर लौटने लगा, और जानते हो, थोड़ी रात बीतते-बीतते बच्चे सो जाते हैं। बस समझ जाओ। मैं जब घर लौटता, तब तक अक्सर बच्चे सो जाते हैं।"

बंबई की एक फिल्म-कम्पनी से ऑफर आया। देवनारायण द्विवेदी को भी फिल्मवाले चाहते थे। मगर, कई कारण वश द्विवेदीजी ने फिल्म में जाना पसंद न किया। प्रेमचंदजी गए और कुछ ही महीने बाद लौट आए। भेंट होने पर देवनारायण द्विवेदी ने पूछा, "भैयाजी, फिल्म का अनुभव कैसा रहा ?"

प्रेमचंदजी बड़े गमगीन होकर बोले, "अच्छा हुआ, तुम नहीं गए। मैंने तो जले हृदय से जैनेन्द्र को कई पत्र भी लिखे थे। मत पूछो, वहाँ का क्या हाल है। लेखक को डायरेक्टर के हाथ की कठपुतली बनना होता है। वहाँ उसी लेखक का सम्मान है, जो स्वयं लेखक, डायरेक्टर और निर्माता भी है। वैसे वहाँ लेखकों का सम्मान नहीं। खासकर मुझ-जैसे लेखक के लिए वहाँ के वातावरण में रहना नामुमकिन है। कला के

नाम पर मैंने वहाँ सेक्स का नग्न-नृत्य देखा। प्रेम के नाम पर हत्याएँ और आत्म-हत्याएँ देखीं। दूर से वहाँ का जीवन जितना ही प्रकाशमय प्रतीत होता है, समीप से उतना ही घृणास्पद और अंधकारमय है। व्यभिचार की आत्मा वहाँ खुलकर खेलती है। किसी तरह भाग आया, चलो ग़नीमत है। जैसे सभी लोग संघर्ष कर रहे हैं, मैं भी करूँगा। जिंदगी गुजर ही जाएगी।"

आजकल अकसर ऐसा होता है कि एक लेखक दूसरे लेखक को आगे क्या बढ़ाएगा, किसी से उसकी प्रतिभा की भरपूर प्रशंसा भी नहीं करता। लेकिन उनमें इस प्रकार की संकोर्णता नाम मात्र को नहीं थी। वे बड़े गुण-ग्राहक व्यक्ति थे।

एक बार काशी पुस्तक भंडार के अध्यक्ष सूर्यबलीसिंह ने प्रेमचंदजी से कहा कि वे एक ऐसा उपन्यास लिखकर उन्हें दें, जिसमें दहेज-प्रथा से फैली सामाजिक बुराइयों पर प्रकाश पड़े और लोग दहेज की प्रथा को बन्द करने के लिए प्रेरित हों। प्रेमचंदजी इन दिनों बीमार थे। देवनारायण द्विवेदी के कथनानुसार यह शायद उनकी अन्तिम बीमारी थी। उन्होंने सूर्यबलीसिंह से कहा, "मैं लाचार हूँ। मुझसे शायद नहीं हो सकेगा। मैं समझता हूँ कि इस विषय पर पं० देवनारायण द्विवेदी अच्छा उपन्यास लिख सकेंगे। आप उनसे लिखवाइए। मैं भी उन्हें कहूँगा।"

सूर्यबलीसिंह ने देवनारायण द्विवेदी से अपनी इच्छा प्रकट की। स्वयं प्रेमचंदजी ने भी द्विवेदीजी से कहा। प्रकाशक के आग्रह और प्रेमचंदजी की प्रेरणा से पं० देवनारायण द्विवेदी ने इस विषय पर उपन्यास लिख डाला—'दहेज'। इस उपन्यास का हिन्दी-संसार में काफी स्वागत हुआ।

प्रश्नकर्ता ने देवनारायण द्विवेदी से पूछा, "प्रेमचंदजी के सम्बन्ध में और कोई बात ?"

देवनारायण द्विवेदी बोले, "और क्या बतलाऊँ, वे बड़े प्रेमी थे....।' और इतना कहते-कहते उनकी आँखों में प्रेमचंदजी के प्रति श्रद्धा के आँसू छलछला आए ।
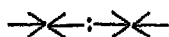
ये चिरस्मरणीय पत्र

"किसी विद्वान् की स्याही एक शहीद के खून से अधिक कीमती है।"

—बाइबिल

साधारण जनता की बात कौन करे, हमारे देश में सजग साहित्यकार भी सामान्य लेखकों के पत्र की सुरक्षा नहीं कर पाते इस अर्थ में हमारा देश कल्पना से अधिक पिछड़ा हुआ है। इसके लिए जनसाधारण की अपेक्षा हमारा साहित्यकार-वर्ग अधिक अपराधी है। हम नहीं समझते कि साहित्यकार के पत्रों का क्या मूल्य है। इस सम्बन्ध में स्वनामधन्य संपादक प्रवर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अधिक सजग हैं और उनका सारा जीवन ही साहित्यकारों की सेवा और सहायता करने में बीत रहा है। मुझे एक पत्र देखने का मौका मिला था। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने दिल्ली से वह पत्र प्रसिद्ध कवि विद्वान् और उपन्यास-साहित्य में नई कथा-शैली के प्रवर्तक श्री नागार्जुन के नाम लिखा था। उनके पत्र की एक पंक्ति मैं यहाँ दे रहा हूँ :—

"भाई, उन सभी वर्ग के प्रतिभावानों की सेवा मैं करना चाहता हूँ, जो परिस्थितियों के प्रतिकूल रहते हुए भी साहित्य-निर्माण के लिए संघर्ष कर रहे हैं।"

इस शीर्षक के प्रथम क्रम में, मैं पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का वह

भाषण नीचे दे रहा हूँ, जो भारतीय आकाशवाणी, दिल्ली से प्रसारित किया गया था। वह निम्न प्रकार है :—

"प्रेमचंदजी बड़े विनम्र व्यक्ति थे, अभिमान उनको छू भी नहीं गया था। उन्हें इस बात का स्वप्न में भी खयाल नहीं आया होगा कि उनकी चिट्ठियाँ कभी निबन्ध या लेख का विषय भी बन सकती हैं। दिखावट का उनमें नामोनिशान नहीं था, इसलिए उन्होंने जो पत्र लिखे, उनमें सहज स्वाभाविकता पायी जाती है।

पत्रों की खूबी भी इसी बात में है कि उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता न हो। एक अंग्रेज लेखक ने लिखा था—सर्वोत्तम पत्र वे ही कहे जा सकते हैं जो कभी लिखे नहीं जाने चाहिए थे और अगर लिखे भी जाते, तो नष्ट कर दिये जाते।

प्रेमचंद के कई पत्र इस श्रेणी में आ जाते हैं। उनका एक ख़त पढ़ लीजिए, जो उन्होंने मुंशी दयानारायण निगमजी को शायद १६०५ में लिखा था:—

आदहम !

अपनी बीती किससे कहूँ ? जब्त किए कोफ्त हो रही है। ज्यों-ज्यों करके एक अशर (पखवाड़ा) कि खानगी तरद्दुदात (घरेलू झमेलों) का ताँता बँधा। बीबी साहबा ने ज़िद पकड़ी कि यहाँ न रहूँगी, मैके जाऊँगी। मेरे पास रुपया न था। लाचार खेत का मुनाफ़ा वसूल किया। उनकी रुखसती की तैयारी की, वे रो-धोकर चली गईं। मैंने पहुँचाना भी पसंद न किया। आज उनको गए आठ रोज़ हो गए। ख़त न पत्र ! मैं उनसे पहले ही नाखुश था, अब तो सूरत से बेज़ार हूँ। ग़ालिबन उनकी बिदाई दायमी (स्थायी) साबित हो। खुदा करे, ऐसा ही हो। मैं बिला बीबी के रहूँगा। इधर ननिहाल की तरफ़

से और वालदा की तरफ़ से ज़िद्द है कि व्याह रचे और जरूर रचे। जब कहता हूँ, मुफ़लिस हूँ, तो वालदा कहती हैं कि तुम अपनी रज़ा-मंदी दे दो। तुमसे एक कौड़ी न माँगी जाएगी। वहरहाल अबके तो गला छुड़ा ही लूँगा। आयन्दा की बात नारायण के हाथ है। जैसी आपकी सलाह होगी, वैसा ही करूँगा। इस बारे में अभी फिर मशविरा करने की जरूरत बाकी है।"

इस पत्र का महत्त्व इसी बात में है कि यह बिलकुल निजी था और इसके छपने की कल्पना भी उन्होंने कभी न की होगी।

बड़े आदमी होने की यह सज़ा है कि उसकी निजी बातों की जाँच-पड़ताल करने का हक़ मानों सभी को हासिल हो जाता है। और, बड़े आदमी की पत्नी होना तो अपने ऊपर और भी मुसीबत लाना है। वह दंड पूरी मात्रा में प्रेमचंदजी की पहली पत्नी को भुगतना पड़ा। वैसे प्रेमचंदजी के पत्र मामूली बोल-चाल की भाषा में लिखे गए हैं, पर कभी-कभी उनमें साहित्यिकता की अद्‌भुत छटा आ गई है और पत्र-साहित्य में उनको बहुत ऊँचा स्थान मिलेगा। मिसाल के तौर पर उनके उस ख़त को भी पढ़ लीजीए, जो उन्होंने निगम साहब को ही उनके छोटे बच्चे की मृत्यु पर लिखा था:—

"खेल में शरीक होकर हम खुद हार और जीत को बुलाते हैं। कज़्ज़ाक के हाथों लुट जाना जिंदगी का मामूली हादसा (घटना) नहीं है। जो खेल में शरीक होगा, वह बखूबी जानता है कि हार और जीत दोनों ही सामने आएँगी। इसलिए उसे हार से मायूसी नहीं होती, जीत में फूला नहीं समाता। हमारा काम तो सिर्फ खेलना है, खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम कौनेन (संसार) की दौलत खो बैठेंगे। लेकिन

हारने के बाद, पटखनी खाने के बाद गर्द झाड़कर खड़े हो जाना चाहिए और फिर खम ठोंककर हरीफ (प्रतिद्वन्द्वी) से कहना चाहिए कि एक हार और।

"खिलाड़ी बनकर आपको वाकई इत्मिनान होगा। मैं खुद इस प्रकार (मापदण्ड) पर पूरा उतरूँगा या नहीं, मगर कम-से-कम अब के पीछे किसी नुकसान पर इतना रंज न होगा, जितना आज से चंद साल क़ब्ल (पहले) हो सकता था। मैं अब शायद न कहूँगा कि हाय जिन्दगी अकारथ (व्यर्थ) गई कुछ न किया, जिन्दगी खेलने के लिए मिली थी, खेलने में कोताही नहीं की। आप मुझसे ज्यादा खेले हैं। हार और जीत दोनों देखी है। आप-जैसे खिलाड़ी के लिए शिकवाए-तक़दीर की जरूरत नहीं। कोई गोल्फ़ और पोलो खेलता है, कोई कबड्डी खेलता है; बात एक है। हार और जीत दोनों ही मैदानों में हैं। कबड्डी खेलने वाले की जीत की खुशी कुछ कम नहीं होती। इस हार का ग़म न कीजिए। आप मुझसे उश्शाक (निपुण) हैं। मैं ५ या ६ मई तक कानपुर आने वाला हूँ, यहाँ की कोई चीज दरकार हो, तो बेतकल्लुफ लिखिएगा। दीगर हालात मेरे पहले ख़त से मालूम हुए होंगे।"

प्रेमचंदजी ने शिवरानी देवी के नाम जो पत्र लिखे थे वे सात्विक गार्हस्थिक प्रेम के उदाहरण के रूप में पेश किए जा सकते हैं। वे भी कभी छपने के लिए न लिखे गए थे, किन्तु हम सबको श्रीमती शिवरानी देवीजी का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने प्रेमचन्दजी के चरित्र की वह दुर्लभ झाँकी हमें भी दिखा दी।

४ जून, १९३४ के पत्र में उन्होंने लिखा था :—

"अब तुम्हारे पास बेटी और शानू भी पहुँच जाएगा। तुम्हारे पास

तो सभी होंगे, भाई-बन्द लड़के लड़की सभी और मुझे तो तुमलोगों के बिना बंबई होते हुए भी सूनी ही मालूम होती है। यही बार-बार इच्छा होती है कि छोड़छाड़ कर भाग खड़ा होऊँ। बार-बार यह झुँझलाहट होती है, कहाँ से यह बला मोल ले ली। मैंने अभी मकान नहीं लिया है, अभी मकान ले लूँगा तो वह सूना घर मुझे और खाने दौड़ेगा। मकान तो उसी समय लूँगा, जब तुम्हारा पत्र आने के लिए आ जाएगा।"

इसके ग्यारह दिन बाद १५ जून को प्रेमचंदजी ने फिर लिखा था:—

"तुम तो इन सबों के साथ खुश हो, इधर मैं सोचता हूँ कि एक-डेढ़ महीना कैसे बीतेगा! इसे समझ ही नहीं पाता हूँ, आखिर काम ही करूँ तो कितना करूँ! आखिर बैल तो नहीं हूँ, फिर आदमी के लिए मनोरंजन भी तो कोई चीज़ होती है। मेरा मनोरंजन तो सबसे अधिक घर पर बाल-बच्चों से ही हो सकता है। मेरे लिए दूसरा कोई मनोरंजन ही नहीं है। खाना भी खाने बैठता हूँ, तब भी अच्छा नहीं मालूम होता; क्योंकि यहाँ साहबी ठाट-बाट हैं और साहब बनने से मेरी तबीयत घबड़ाती है।....मेरी तो यह समझ में नहीं आता कि जो लोग घर-बार से अलग रहते होंगे, वह कैसे रहते हैं? मेरी तो यह महीना-डेढ़ महीना याद करके नानी मरती है कि किस तरह ये दिन कटेंगे? क्या करूँ? किसी तरह से काटना होगा।"

"........बल्कि यह कहता हूँ कि तुम्हारा उपासक हूँ। तुम्हारे बिना मुझे अकेले रहना दूभर हो रहा है।"

अपने १ दिसंबर, १६३५ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था:—

"मैं अब इस बात को भलीभाँति समझने लगा हूँ कि संतुष्ट गृहस्थी एक बड़ी भारी नियामत है।"

इन पत्रों के पढ़ लेने से प्रेमचंदजी के चरित्र को समझने में बड़ी मदद मिलती है। जब मेरे बार-बार बुलाने पर भी प्रेमचंदजी कलकत्ता तथा शांतिनिकेतन नहीं आए, तो खुद मुझे यह भ्रम हो गया था कि या तो वह कुछ संकोच कर रहे हैं या फिर बहाना बना रहे हैं। यह प्रेमचंदजी से घर पर मिलने के बाद वह भ्रम सदा के लिए दूर हो गया। दरअसल वह एक घरेलू जीव थे, अपनी छोटी घर-गृहस्थी में खुश रहनेवाले, वाह्य आडंबर और दुनियावी शान-शौकत से कोसों दूर रहनेवाले।

श्री जैनेन्द्रकुमारजी के नाम जो पत्र प्रेमचंदजी ने लिखे थे, वे भी काफी महत्त्वपूर्ण थे। उनसे प्रेमचंदजी के स्वभाव तथा विचारों को समझने में बहुत मदद मिल सकती है। जैनेंद्रजी की माताजी के स्वर्गवास पर लिखा गया उनका पत्र कितना स्नेहपूर्ण है:—

"कल तुम्हारा पत्र मिला। मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई बचा है....जब यह सोचता हूँ कि तुम्हारी माताजी तुम्हारे लिए क्या थीं और तुम उनके काल में आज भी लड़के-से बने फिरते थे, तब जी चाहता है कि तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ। उनका वह स्नेह! वह तुम्हारी जो कुछ थीं, वह तो थीं ही, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे, आँखें थे, सब कुछ थे! विरले ही भाग्यवानों को ऐसी माताएँ मिलती हैं।"

इसी पत्र में आगे चलकर उन्होंने लिखा था:—

"और तो सब ठीक है। चतुर्वेदीजी ने कलकत्ते बुलाया था कि नोगुची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ। यहाँ नोगुची हिंदू युनिवर्सिटी आए, उनका व्याख्यान भी हो गया। मगर, मैं न जा सका। अक्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गई। ईश्वर पर विश्वास नहीं

आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो, जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं संदेह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।"

अख्तर हुसैन रामपुरी को एक पत्र में प्रेमचंदजी ने लिखा था:—

"अब मेरा क़िस्सा सुनो। मैं क़रीब एक माह से बीमार हूँ। मेरे आमाशय में गैस्टिक अल्सर की शिकायत है। मुँह से खून जाता है, इसलिए कोई काम नहीं करता। दवा कर रहा हूँ। मगर अभी तक कोई इज़ाफ़ा (लाभ) नहीं। अगर बच गया, तो 'बीसवीं सदी' रिसाला आपलोगों के ख़यालात की अशाअत के लिए जरूर निकालूँगा। 'हंस' से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ्त की सरमग्ज़ी, यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज़्यादा रुपया खर्च कर दिया। इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया। बिल्कुल अकेला, अपने वक़्त और सेहत का कितना खून किया, इसका किसी ने लिहाज़ न किया। जिस लिटरेचर की 'हंस' अशाअत कर रहा था, वह हमारा लिटरेचर नहीं है, वह तो वही शक्कनीवाला महाजनी लिटरेचर है, जो हिंदी ज़ुबान में काफी है।"

यह पत्र शायद १९३६ का है।

प्रेमचंदजी ने जो पत्र मुझे लिखे थे, अंत में उनका भी कुछ जिक्र कर दूँ। दुर्भाग्यवश मैं प्राय: उन्हें अंग्रेजी में ही पत्र लिखता था, जिसकी वजह से वह भी अंग्रेजी में ही जवाब देते थे। परंतु, एक हिंदी पत्र भी है, जो बहुत महत्वपूर्ण है। अपने ३ जून, १९३० के पत्र में उन्होंने लिखा था:—

"मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यह है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की

मुझे हविस नहीं। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी, खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शांति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी, दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।"

जो व्यक्ति धन-संपदा में विभोर और मगन हो, उसके महान् पुरुष होने की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझपर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को, उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलंबित है, स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण, जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रकम जमा देखकर शायद मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे हैं। मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य गरीबों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सांत्वना मिलती है। मेरा भाग्य गरीबों के साथ जुड़ा हुआ है।"

इस वाक्य में प्रेमचंदजी के जीवन का सार आ जाता है। अपनी जिन्दगी की सारी फ़िलासफ़ी जीवन का संपूर्ण दृष्टिकोण उन्होंने अपने इस पत्र में दे दिया था।

प्रेमचंदजी के जितने भी पत्र मेरे देखने में आए हैं, सभी सीधी-सादी ज़ुबान में हैं। उनमें उनका व्यक्तित्व झलकता है। उनमें शब्दाडंबर नहीं, लफ्फ़ाज़ी नहीं, एक प्रकार का भोलापन है, एक तरह की सादगी है; क्योंकि अपने पत्रों में प्रेमचंदजो पूर्णरूप से मौजूद हैं।"

सन् १९२९ ई० के जून में प्रेमचंदजो की १४ कहानियों का मराठी अनुवाद 'प्रेमचन्द च्या गोष्ठी' के नाम से प्रकाशित हुआ था और अनुवादक थे—श्री आनन्दराव जोशी। संग्रह पूना के प्रसिद्ध प्रेस चित्रशाला से प्रकाशित हुआ था। स्वर्गीय प्रेमचंद के पत्रों से कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। इन पत्रों से यह पता चलेगा कि प्रेमचंदजी को अपनी कौन-सी कहानियाँ विशेष प्रिय थीं और वे अपनी कौन-सी कहानियाँ सर्वोत्तम मानते थे—

पत्र-संख्या १

Madhuri office
N. K. Book Depot,
Lucknow
11-1-1928

...you may take up some 12 selected stories from all of my stories. I would advice you to take.

(१) आत्माराम (२) बूढ़ी काकी (३) पंच परमेश्वर (४) सुजान भगत (५) शतरंज के खिलाड़ी (६) मन्दिर और मस्जिद (७) रानी सारंधा (८) विक्रमादित्य की कटार (९) कामना तरु (१०) डिग्री के रुपए (११) बड़े घर की बेटी (१२) दुर्गा का मन्दिर।

You will find these stories dispressed in all collections, namely प्रेम-प्रसून, प्रेम पच्चीसी, प्रेमपूर्णिमा, सप्तसरोज, नवनिधि and the file of Madhuri. I am sure this collection will be welcome to the Marathi reading pub lic.

पत्र-संख्या २

'माधुरी' कार्यालय
नवलकिशोर प्रेस
लखनऊ
16-2-1928

···Yes, you may translate the stories. I hope you will get a sufficient number of them in Madhuri. You may select some 12 of them and try·········If you can get hold of my collections in any library, select, पंचपरमेश्वर, हरदौस दुर्गा का मंदिर, मंदिर और मस्जिद, कामना तरु, सुजान भगत, सती लैली (Sarswati), बड़े घर की बेटी etc.

Please let me know wheather you have selccted and commenced work.

पत्र-संख्या ३

Madhuri office
N. K. press Book Depot
Lucknow
4-4-1928

···you may translate Agni Samadhi, Mantra or other stories appearing in contemporary periodicals. You have asked me to name 12 of my best stories. Here is a bit—

(१) राजा हरदौस (२) रानी सारंधा (३) सौत (४) पंच परमेश्वर (५) आत्माराम (६) मंदिर और मस्जिद (७) दुर्गा का मंदिर(८) ईश्वरीय न्याय (९) नमक का दारोगा (१०) सती (११) कामना तरु (१२) लांछन (१३) मंत्र ।

In my opinion these are the 12 best of my stories. But of corrse my selection is not final. It is only off hand.

पत्र-संख्या ४

माधुरी कार्यालय
नवलकिशोर प्रेस
लखनऊ
12-6-1928

...I am glad you are proceedig with my stories. You will be glad to see 'Actress' translated in the 'Modern Review' of this month. Some of the stories have been translated in Japanese language.

पत्र-संख्या ५

Aminudduala park
Lucknow
2-5-1930

...yes, you now take up the 2nd. part. Do you receive 'Madhuri' every month? I think 'घरजमाई', 'घासवाली', 'खुचड़', etc. are desent stories. Which collections of mine are with you? I have recently brought out. पाँच फूल', 5 of my stories. Another collectioni s Premkunj. Hans had my 'जुलूस', which was very much liked here. 'माँ' appeared in Madhuri and was much liked. Is there any library containing all my works? If so, the work of sellection would be facilitated. First you may take these Madhuri Ones.

पत्र-संख्या ६

Aminuddaula park
Lucknow
21-5-1930

'घासवाली' was appreciated generally. You include it.one or two other stories too have been much liked these days. But the collection I have mentioned and which will reach you, contain enough material for you. Hans is being appreciated but the number of subscribers is not rising as expected. *We are not disheartened, however.*

प्रेमचंदजी के व्यक्तिगत पत्रों में हमें उनकी महान् साहित्यिक और सामाजिक अभिरुचि के दर्शन होते हैं। जिन्हें उनसे मिलने का मौका मिला, अपने को निहाल समझा। जिन्हें प्रेमचंदजी ने पत्र लिखे, वे उन्हें साहित्य-दर्शन का मार्ग-निर्देशक पत्र के रूप में स्वीकार करते रहे। बौद्ध-साहित्य के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् और साहित्यकार श्री भदंत आनन्द कौसल्यायन को प्रेमचंदजी से मिलने का मौका मिला था और काल-क्रमानुसार प्रेमचंदजी ने उन्हें तीन पत्र लिखे थे। विषय और प्रसंगानुसार हम उन पत्रों को नीचे दे रहे हैं :—

सन् १९३५ में कौसल्यायनजी सारनाथ में रहने लगे थे। वहीं उन्हें पता लगा कि महाबोधि विद्यालय में एक लड़का पढ़ता है, जो प्रेमचंदजी का सम्बन्धी है और वह उन्हीं का पत्र लेकर विद्यालय में भरती होने आया था। कौसल्यायनजी को बड़ी खुशी हुई। उस विद्यार्थी का नाम कृष्णानन्द था। कौसल्यायनजी ने उस लड़के को बुलवाया

और उससे प्रेमचंदजी के बारे में पूछा। पता चला कि सारनाथ से डेढ़-दो कोस की दूरी पर लमही में प्रेमचंदजी रहते हैं। उन्होंने कृष्णानन्द के हाथ 'धर्मदूत' के दो-तीन अंक प्रेमचंद के पास भेजे। प्रेमचंदजी ने दूसरे रोज उत्तर दिया—

२५—८—३५

'प्रिय कौसल्यायनजी,

वन्दे!

तीनों अंक मिले। अनेक धन्यवाद! मैं दिन भर घर पर रहता हूँ। इस मास के अन्त तक बाहर जाने वाला हूँ। मकान ले रखा है। आप आने का कष्ट करें, तो बड़ी कृपा हो।

भवदीय
प्रेमचंद

इसके बाद कौसल्यायनजी प्रेमचंदजी से मिले। उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। सन् ३६ में कौसल्यायनजी सिंहल चले गए थे। वहाँ से उन्होंने 'बुद्ध का बुद्धिवाद' नामक एक लेख 'हंस' में प्रकाशनार्थ भेजा। लेख पाकर लौटती डाक से प्रेमचंदजी ने कौशल्यायनजी को उत्तर दिया :—

'प्रिय आनन्दजी,

आपका नोट मिला। धन्यवाद! इसकी जरूरत थी। छापूँगा। हाँ, सिंहल साहित्य के विषय में अगर कोई लेख भेज सकें, तो बड़ा अच्छा हो। इसे तो हम जानते ही नहीं। उसका कुछ आलोचनात्मक इतिहास ही हो, तो कोई हर्ज नहीं।

अगर इंगलैंड जायँ, तो वहाँ से 'बौद्ध-साहित्य' पर एक अच्छा-

सा लेख लिखें, केवल उसके धर्म-साहित्य पर नहीं, बल्कि बौद्धकालीन साहित्य पर। ऐसे लेख की बड़ी जरूरत है। आशा है, आप प्रसन्न हैं।

आपका

प्रेमचंद'

प्रेमचंदजी के सम्बन्ध में एक संस्मरण लिखते हुए भदन्त आनंद कौसल्यायन लिखते हैं कि दूसरी बार इंगलैंड जाने का विचार छोड़कर मैं सिंहल से वापस सारनाथ चला आया। एक दिन मुझे भारतीय साहित्य परिषद् के मंत्री की चिट्ठी मिली जिसका मतलब था कि यदि कोई आपत्ति न हो तो, वह मुझे भा० सा० परिषद् का सभासद बना लेना चाहते हैं। हिन्दी-भाषा-भाषियों में सिंहल साहित्य से कुछ परिचय रखने वाला—यही अपने राम की विशेषता समझी गई होगी। मैंने धन्यवाद पूर्वक प्रतिज्ञा-पत्र भरकर लौटा दिया। किसी भी संस्था का सभासद बनते समय एक भिक्षु के लिए जो बात विचार लेने की होती है, वह चन्दे की है। सो इसमें न था। भा० सा० परिषद् के उद्देश्यों से मेरी सहानुभूति थी और है तथा मैं श्रद्धा पूर्वक कुछ सेवा करना चाहता था और चाहता हूँ। सभासद बनने के बाद मेरे पास भा० सा० परिषद् के मंत्री के हस्ताक्षर से कभी-कभी पत्र आने आरम्भ हुए—लेकिन सभी अंग्रेजी में। सम्भव है, कभी कोई हिन्दी में आया हो, लेकिन दिमाग़ पर जोर डालने पर भी तो यह नहीं आ रहा है। मैं स्वयं अंग्रेजी में पत्र लिखता हूँ; कभी-कभी भारत में भी और वैसे भारत के बाहर। जो दो-चार भाषाएँ जानता हूँ, उन सबमें समय-समय पर पत्र लिखते रहना चाहता हूँ, कम-से-कम इसी ख़याल से कि अभ्यास बना रहे। लेकिन, भारतीय साहित्य परिषद् के मंत्री तो बिलकुल दूसरी चीज़ हैं। वह अपने व्यक्तिगत पत्र चाहे जिस भाषा में लिखें, लेकिन

भारतीय साहित्य परिषद के मंत्री के पत्र तो उसे हिन्दी में और केवल हिन्दी में उसे लिखने या लिखवाना चाहिए। हिन्दी में न लिखकर यदि किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखें, तो भी मुझे आपत्ति नहीं, लेकिन भारतीय साहित्य परिषद का मंत्री और पत्र लिखे एक भारतीय भाषा में और ऐसी अभारतीय भाषा में, जिसकी मानसिक गुलामी से देश को मुक्त करना हमारी राष्ट्रीय समस्या है। कुछ इसी प्रकार के विचारों से क्षुब्ध होकर मैंने प्रेमचंद को एक पत्र लिखा जिसका उत्तर मिला—

'प्रिय आनन्दजी,

क्या आप समझते हैं, अंग्रेजों की गुलामी से भारतीय परिषद मुक्त है ? जब कांग्रेस की सारी लिखा-पढ़ी अँग्रेजी में होती है, तो भारतीय परिषद तो उसी का बच्चा है। मंत्रीजी हिन्दी नहीं जानते, मगर हिन्दी के भक्त अवश्य हैं। अगर आप ऐसे भक्तों को दबायेंगे, तो वह भाग खड़े होंगे।

'हंस' सितम्बर से सस्ता साहित्य देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके संपादन से इस्तीफा दे दिया है। मैं इधर एक महीने से बीमार हूँ।

अगर अच्छा हो गया, तो यहाँ से अपना एक नया पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचारधारा के अनुसार निकालूँगा।........

मुझे आशा है, इस नई योजना में आपकी मदद पर भरोसा कर सकूँगा।

प्रेमचंद

प्रेमचंदजी की अर्द्धाङ्गिनी सुश्री शिवरानी देवी एक कुशल कहानी-लेखिका हैं और उनकी कहानी-कला पर प्रेमचंदजी की शैली का पूर्ण-

तया प्रभाव छाया हुआ है। प्रेमचंदजी के जीवन-काल में इन्होंने अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी थीं और हिन्दी-संसार ने उनका स्वागत किया था। अब उनका एक या दो कहानी-संग्रह पुस्तकाकार प्राप्य है। अपनी पत्नी की कहानियों के सन्बन्ध में प्रेमचंदजी ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को १३–८–१९३३ के पत्र में लिखा—

"Mrs. premchand weuld feel so much delighted to have your review. She has received scant justice from literary world yet. Because I overshadow her or ma^ be bacau^e some wisacres may be thinking, I am the real auther ! I do not deny that I am responsible for literary finish but the conception and execution is entirely hers. A brilliant woman speaks in every line. A man of my peaceful disposition could not conceive such aggressively womanish plots."

आज के नए लेखकों को इस बात की शिकायत रहती है कि प्रकाशक उनकी पुस्तकें नहीं छापते या हिन्दी पुस्तकों के पाठकों का इतना अभाव है कि नए साहित्यकारों को ग्रंथ-मुद्रण करने का उत्साह ही नहीं मिलता। लेकिन भारत के साहित्यकारों के लिए यह अभिशाप नया नहीं है। प्रेमचंदजी को भी इस प्रकार के कष्ट झेलने पड़े थे। निराशा और मायूसी तो उनके पीछे हाथ धोकर पड़ी थीं। मगर, प्रेमचन्दजी तो आँधी में जलते रहने वाले दीपक थे। उनके तत्कालीन अनुभव का एक पत्र देखें। यह पत्र उन्होंने गोरखपुर से 'जमाना' के संपादक को लिखा था—

"क्या हौसला अखबारनवीसी और लिट्रेरी काम का हो। 'प्रेम-

पचीसी हिस्सा अव्वल' को छपे चार साल हुए। मगर अभी तक निस्फ पड़ी हुई है। हिस्सा दोयम की मुश्किल से १५० जिल्दें निकली हैं। मैं इससे बेहतर नहीं लिख सकता और बेहतर कामयाबी की उमीद नहीं रखता। आप कह-सुनकर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी नाविल (उपन्यास) ने खूब शोहरत हासिल की और अकसर नक्कारों (आलोचकों) ने उसे हिन्दी जुबान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह 'बाजारे-हुस्न' का तर्जुमा है। 'बाजारे-हुस्न' अब साफ कर रहा हूँ।

संपादक 'जमाना' के नाम ही २३ अप्रैल, सन् १६२७ के पत्र में लिखा है—

"मेरा इरादा एक लीथो प्रेस खोलने का है।······लोग कहते हैं, बनारस में लीथो प्रेस नहीं चल सकता। लेकिन एक बार कोशिश करके देखना चाहता हूँ। मेरी कई किताबें निकलने के लिए तैयार हो रही हैं। 'प्रेम-पचीसी' खत्म हो गई। 'गोशाये आफियत' (प्रेमाश्रम) महज इसलिए नातमाम (अधूरा) है कि कोई पब्लिशर नहीं है। ताजा ड्रामा 'संग्राम' भी उर्दू में निकालना चाहता हूँ। जब तक ये किताबें तैयार होंगी, गालबन मेरा नाविल तैयार हो जायगा।"

उक्त पत्र के संपादक को ही २५ फरवरी, १६३२ के पत्र में लिखा–

"पर्दा मिजाज् अभी तक पब्लिशर ने नहीं भेजा। कई खतूत (पत्र) लिख चुका। न रुपए भेजता है, न किताबें; न जवाब देता है। मालूम नहीं, बीमार है क्या? इधर 'ग़बन' का तर्जुमा भी शुरू कर दिया है। एक नया नाविल भी शुरू कर दिया है। मगर, सर्दबाजारी बलाए-जान हो रही है। किताबों की काफी बिक्री नहीं।"

आज के ख्यातिप्राप्त उपन्यास-लेखक और नाटककार उपेन्द्रनाथ अश्क के नाम एक पत्र में प्रेमचंदजी ने लिखा:—

"बुकसेलरों का तजुर्बा आपसे ज्यादा मुझे तलाव हुआ है। एक

पब्लिशर मेरे डेढ़ सौ रुपये दबाये बैठा है। लाहौर ही में एक दूसरा पब्लिशर मेरे सात सौ रुपये हज्म करना चाहता है। अखबारात का यह हाल है, बुकसेलरों का यह। बेचारा मुसन्नफ (लेखक) क्या करे।....”

६ जुलाई, १६३६ को प्रेमचंदजी ने एक पत्र उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के पास लिखा था:—

“डीयर उपेन्द्रनाथ,

दुआ। तुम ताज्जुब कर रहे होगे कि मैंने तुम्हारे खत का जबाब क्यों नहीं दिया। मैं पन्द्रह दिन से कैदी-ए-बिस्तर (रुग्न शैया) हो रहा हूँ। हाजमा की शिकायत है, जिगर और मेदा की खराबी। कोई काम नहीं करता। तुम्हारी परेशानियों का किस्सा पढ़कर रंज हुआ। इस महाजनी दौर में पैसे का न होना (अज़ाब) है। जिंदगी खराब हो जाती है। लेकिन यह भी न भूलना कि गरीबी और मुसीबतों का एक इखलाकी (नैतिक) पहलू भी होता है। इन्हीं आज़माइशों में इंसान, इंसान बनता है। उसमें खुद एतयादी (आत्म-विश्वास) पैदा होती है।

हिंदी में भी वही कैफियत है, जो उर्दू में। किताबें नहीं बिकतीं। पब्लिशर कोई नई किताब छापते नहीं।

सन् १६३८ ई० की बात है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनसे तीन प्रश्न पूछ भेजे थे, जिनमें एक प्रश्न यह भी था कि अपनी रचनाओं से आपको कितनी आमदनी हुई? प्रेमचंदजी ने उत्तर देते हुए लिखा:—

“आमदनी का कुछ न पूछिए। समस्त प्रारंभिक पुस्तकों का प्रकाशन-अधिकार पब्लिशर्स को दे दिया। 'सेवा-सदन', 'प्रेमाश्रम', 'सप्त-सरोज' और 'संग्राम' के लिए हिंदी पुस्तक एजेंसी ने एक मुश्त तीन हजार रुपए दे दिए थे। और, निबंध के लिए अबतक शायद दो सौ रुपये मिले। दुलारेलाल जी ने 'रंगभूमि' के लिए अठारह सौ रुपए

दिए थे। दूसरे संग्रह के लिए सौ-दो सौ रुपए मिल गए होंगे। 'कायाकल्प', 'आजाद-कथा', 'प्रेमतीर्थ', 'प्रेम-प्रतिमा' और 'प्रतिज्ञा' मैंने खुद छापी। मगर, मुश्किल से अभी तक छः सौ रुपये वसूल हुए हैं। रचनाओं से फुटकर आमदनी पच्चीस रुपए महीना हो जाती है; मगर कभी-कभी इतनी भी नहीं। अनुवाद से शायद दो हजार से अधिक नहीं मिला। आठ सौ रुपए में 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनों के अनुवादों का मामला तय हो गया। 'हंस' और 'जागरण' के प्रकाशन में लगभग दो सौ रुपए महीने का नुकसान हो रहा है।"

आज हम अपने प्रेमचंद की तुलना मैक्सिम गोर्की से करते हैं। प्रेमचंद का नाम लेते हैं। भारतीय-साहित्य को विश्व-साहित्य के समक्ष रखने का साहस करते हैं। मगर,हम नहीं जानते कि इस भारतीय गोर्की को किस प्रकार अपनी रचनाओं के लिए प्रकाशकों से समझौता करना पड़ता था। 'सेवा-सदन' प्रकाशित होने के छः-सात साल बाद उसका उर्दू संस्करण पंजाब से प्रकाशित हुआ था। प्रकाशन-संस्था का नाम था—दारुल अशाअत, पंजाब, लाहौर। इसके मालिक थे—सैयद इम्तयाज अली (ताज)। उर्दू संस्करण के प्रकाशन के संबंध में जो पत्र प्रेमचंदजी ने उन्हें लिखा था उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है:—

गोरखपुर
२२ अप्रैल, १६२०

मुशफिके मन,
तस्लीम !

नवाजिशनामा मिला। मश्कूर हूँ। 'बाजारे हुस्न' आप शाआ करें। शरायत के मुताल्लक यह अर्ज है कि आप पहले एडीशन के लिए मुझे २० फी सदी रायल्टी अता फरमायें। पहला एडीशन १२०० नगों का होगा। ग़ालबन एक रुपया आठ आने कीमत रखी जाय।

मुझे २८० जिल्दें मिलेंगी। यह जिल्दें काश मुझे जिल्दों की सूरत में दे दें या रुपए की सूरत में। रुपए की सूरत में देने से वही कमीशन, जो मैं दूसरे बुकसेलर मसलन रसाला 'ज़माना' को दे दूँगा—आपको वज़्आ कर दूँगा। अगर आप इसे पसन्द न फरमायें, तो मुझे जिल्द ही दे दें। किसी तरह बेच या बिकवा लूँगा। अगर इन दोनों सूरतों में से कोई भी पसन्द न हो, तो मुझे पहले एडीशन के लिए २५० रुपए अता फरमायें। हिंदी में मुझे ५०० मिले थे। आप जिस तरह चाहें, फैसला कर लें। २५० रुपए ग़ालबन जरूरत से ज्यादा मुतालिबा नहीं है। मेरी डेढ़ साल की मेहनत और ख़ामाफरसाई का नतीजा यह किताब है। अगर यह शर्तें सब आपको नागवार मालूम हों, तो अपनी मर्जी के मुताबिक किताब शाया करके मुझे जो चाहें, दे दें। मैं आपका मश्कूर हूँगा। मुझे यह सख्त जिल्लत मालूम होती है कि अपनी किताब के लिए पब्लिशरों की खुशामद करता फिरूँ।

'प्रेम-बतीसी' हिस्सा दोयम का किस्सा 'खूने अज़मत' मिल गया है। पहला हिस्सा अनक़रीब तैयार है। दूसरा हिस्सा भी जल्द निकले, तो बेहतर। मालूम नहीं, कागज दस्तियाब हो या नहीं। मेरे पब्लिशर (हिन्दी) कलकत्ता से आपके लिए हर क़िस्म का कागज सुभीते के साथ भेजने पर आमादा हैं। निस्फ़ क़ीमत पेशगी। अगर आप इसे मंज़ूर फरमायें, तो काग़ज़ का आर्डर वग़ैरह इस पता पर दे सकते हैं। मेरा हवाला देना जरूरी होगा।

श्रीयुत महावीर प्रसादजी
बुक्सेलर्स एण्ड पब्लिशर्स
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरीसन रोड,
कलकत्ता।

प्रेमचन्दजी स्वयं प्रकाशक बने थे और इस पेशे में भी उन्हें लाखों मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। सन् १९२० में प्रेमचन्दजी ने अपना पत्र 'हंस' निकालना प्रारम्भ कर दिया था। यह इन्हीं के प्रेस (सरस्वती प्रेस) बनारस से प्रकाशित होता था और वह इस बात को महसूस करते थे कि संपादक का काम है नए लेखकों को उत्साहित करना और उनकी रचनाओं को सुधार-सँवार कर प्रकाशित करना। नए लेखकों की रचनाओं को वे परिश्रम पूर्वक सुधार कर छापते थे। पत्रों में वे व्यक्तिगत तौरपर नए लेखकों को कहानी-कला के विषय में समझाते थे। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने उन दिनों लिखना शुरू किया था। उस काल में उन्होंने 'अश्क'जी के नाम कई खत लिखे थे और काव्य के बारे मे अपने अमूल्य सुझाव दिए थे। निम्नलिखित पत्र से हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि नए लेखकों को किस प्रकार कहानी-कला के बारे में समझाते थे और एक उठते हुए कलाकार को क्या पढ़ना चाहिए, इसकी सलाह देते थे। उनकी ओर से उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाम लिखे गए दो पत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

(१)

गणेशगंज, लखनऊ

२५ फरवरी, १९३२

प्रिय बन्धु !

आशीर्वाद ! मुआफ करना, तुम्हारे दो खत आए। 'भिश्ती की बीवी' मैंने पढ़ा और बहुत पसन्द किया था। तुमने उर्दू का एक और छोटा-सा चुटकुला भेजा था। मैं उसे हिन्दी में दे रहा हूँ। मगर, हिन्दी में जो चीजें तुमने अब तक भेजी हैं, उनमें अभी जबान की बहुत खामी

है। हिन्दी के पत्र देखते रहोगे, तो साल छः महीने में ये खामियाँ दूर हो जायँगी। कोई कहानी हमारे लिए हिन्दी में लिखो; मगर कहानी हो फँसी। नहीं, किसी महान् व्यक्ति का जीवन-चरित्र हो, तो उससे भी काम चल सकता है। मगर मेरी सलाह तो यही है कि बहुत लिखने के मुकाबिले में लिट्रेचर और फिलासफी का अध्ययन करते जाओ। क्योंकि इस वक्त का अध्ययन जिन्दगी भर के लिए उपयोगी होगा।

शुभेच्छुक

धनपतराय

(२)

गणेशगंज, लखनऊ

२१ मार्च, १६३२

डीयर उपेन्द्र,

आशीर्वाद ! कई दिन हुए, तुम्हारी हिन्दी कहानी मिल गई। इससे पहले 'फूल का अंजाम' उर्दू की चीज मिली थी। मैं इस हिन्दी कहानी में जरूरी सुधार करके 'हंस' में दे रहा हूँ। लेकिन तुमने नरेन्द्र को बिना काफी कारणों के शादी करने पर आमादा कर दिया। वह शादी से बेजार है। विवाहित जीवन का दृश्य देखकर उसकी तबीयत और उदासीन हो जाती है। फिर यकायक वह शादी करने पर तैयार हो जाता है। लेकिन यह कौन कह सकता है कि जिन मियाँ-बीबी को उसने लड़ते देखा था, उनका जीवन भी यौवन की पहली मधु-ऋतु में इतना ही आकर्षक न रहा होगा? तुम्हें कोई ऐसा सीन दिखाना चाहिए था, जिसमें इन्सान को अपना अकेलापन असह्य हो जाता या मियाँ-बीबी में जंग हो जाने के बावजूद भी उनमें ऐसा चारित्रिक सौन्दर्य

होता, जो इन्सान को शादी की तरफ झुकने पर विवश करता। मौजूदा हालत में क़िस्सा (Convincing) विश्वास पैदा करने वाला नहीं है। 'फूल का अंजाम' इससे अच्छा है। इसमें एक नुक्ता है, एक चिरंतन सत्य है। लेकिन, उर्दू लेकर मैं क्या करूँ ?

पढ़ने के लिए लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की कोई किताब ले लो, स्कूली कोर्स की कोई किताब नहीं। अभी एक किताब निकली है, (The espects of novel) इस विषय पर अच्छी पुस्तक है। मतलब सिर्फ यह है, इंसान उदार विचार वाला हो जाय। उसकी संवेदनाएँ व्यापक हो जायँ। डाक्टर टैगोर के साहित्यिक और दार्शनिक निबन्ध बहुत ही आलाद्र्जे के हैं। रोमां रोलां का विवेकानन्द जरूर पढ़ो। उनकी 'गाँधी' भी पढ़ने के काबिल है। मारले के साहित्यिक जीवन लाजवाब हैं। डाक्टर राधाकृष्णन की दर्शन-सम्बन्धी किताबें, टालस्टाय का (What is Art) वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिएँ।

अख्तर साहब से मेरा सलाम कहना। मैं एक हिन्दी किस्सा लिख रहा हूँ और वह आपके लिए वक्फ़ है।

तुम्हारा खैर अंदेश

धनपतराय

सन् १९१८ में गोरखपुर से संपादक 'जमाना' के नाम लिखा गया एक पत्र :—

"आप बजा कहते हैं, जिन्दगी की उमीद यहाँ भी कम है। मगर मौत की फिक्र मारे डालती है। कितना चाहता हूँ, परमात्मा पर भरोसा रखूँ। मगर दिल मूजी है, समझता ही नहीं। किसी महात्मा की सोह-

वत मिले, तो शायद रास्ते पर आए। यही फिक्र है कि आज मर जाऊँ, तो इन बच्चों का कौन पुरसाने हाल (पूछने वाला) होगा। घर में कोई ऐसा नहीं....दोस्तों, अगर हैं तो आप और अगर नहीं हैं तो आप और न होगा तो मेरे बाद साल-दो साल उनकी खबर तो ले सकते हैं।"

प्रेमचंदजी का एकांतवास पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को खलता था। एक पत्र में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उन्हें लिखा था कि उन्हें इस प्रकार एकांतवास नहीं करना चाहिए और जिंदादिली कायम रखने के लिए सैर-सपाटा करना चाहिए। उनके इस पत्र का उत्तर देते हुए प्रेमचंदजी ने लिखा:—

'नौजवानी और जिंदादिली का संबंध मन से है। बहुत-से नौजवान हैं। जो मनःस्थिति के कारण मुझसे बूढ़े हो गए हैं और बहुत-से वृद्ध हैं जो विचारों के अनुसार मुझसे भी अधिक नवयुवक हैं। लेकिन, उनकी यही धारणा बन गई है कि इस प्रकार मेरी जवानी बहुत तरक्की कर गई है। मैं परलोक में विश्वास नहीं रखता। इसलिए मुक्ति का विचार जो मनुष्य की नौजवानी के लिए सबसे अधिक घातक है, मुझे कभी सताता ही नहीं। हाँ, यह जरूर है कि जवानी भी दो प्रकार की होती है—एक स्वस्थ और दूसरी उन्मत्त। स्वस्थ जवानी का विशेष गुण यह है कि मनुष्य अचानक खाड़ियों से बचता हुआ एक उन्नतिशील और आशावादी मार्ग ग्रहण करे। उन्मत्त जवानी में मनुष्य अंधा रहता है, वह अपनी योग्यता के बारे में भ्रांतिपूर्ण विचार रखता है। और, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के सुन्दर सपने देखा करता है। मैं भी कभी-कभी सपने देखता हूँ और कई बार अदूरदर्शिता भी कर बैठता हूँ। लेकिन, भ्रांति में नहीं पड़ता। इस उन्माद के गुण से ही आनंदित होता हूँ और अब यह अनुभव करने लगा हूँ कि संतोष का

गृहस्थ-जीवन संसार का सबसे बड़ा उपहार है।"

हमें निश्चित तौर पर यह मानना पड़ेगा कि प्रेमचंदजी ने फिल्म का जो 'ऑफर' स्वीकार किया था, वह पैसे बटोरने की नीयत से नहीं। फिल्म में जाकर तो वे साहित्य की सेवा नहीं कर सके, मगर उन्होंने सोचा अवश्य था कि वहाँ से जो रुपए मिलेंगे उससे कर्ज वसूल कर दूंगा और 'हंस' तथा 'जागरण' का खर्च निकल आएगा। यह निर्विवाद है कि उन दिनों 'हंस' और 'जागरण' का प्रकाशन भारतीय जन-जीवन का कंठ-स्वर था। अपने २०-४-३४ के पत्र में उन्होंने जैनेन्द्रकुमार को लिखा था:—

'प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र ऐन इंतजार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की खास जरूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊँगा, जब आओगे, तभी उस विषय में बातें होंगी। मगर तुम्हें क्यों 'ससपेन्स' की हालत में रखूँ? बंबई की एक फिल्म कंपनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कंट्राक्ट की बात है। ८,०००) साल! मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ, जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूँ। मैं इस विषय में तुम्हारी राय जरूरी समझता हूँ। कंपनीवाले हाजरी की कोई कैद नहीं रखते। मैं जो चाहूँ लिखूँ, जहाँ चाहूँ लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सिनेरियो तैयार कर दूँ। सोचता हूँ कि एक साल के लिए मैं चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कंट्राक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हजार रुपए मिल जाया करें। उससे 'जागरण-हंस' दोनों मजे में चलेंगे और पैसों का संकट कट जायगा। फिर हमारी दोनों ही चीजें धड़ल्ले से निकलेंगी। लेकिन, तुम यहाँ आ जाओगे, तब कतई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूँ।'

—×—:—×—
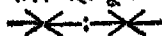
बड़े शौक से सुन रहा था जमाना

काशी का एक होटल,

होटल का एक कमरा,

होटल का वातावरण अशांत और एक कमरे के दरवाजे पर बैठा एक घनी मूँछोंवाला व्यक्ति किसी का खास इंतज़ार कर रहा है। जिस व्यक्ति ने होटल का यह कमरा लिया है, वह अभी-अभी गंगा से स्नान कर होटल में आता है और ज्योंही अपने कमरे के दरवाजे पर पहुँचता है कि वह घनी मूँछोंवाला व्यक्ति उठकर मुस्कुराकर कहता है—"नमस्ते।"

परदेशी को आभास हुआ, शायद उन्हें धोखा हुआ है। उसने प्रश्न किया, "आप किससे मिलना चाहते हैं?"

घनी मूँछों वाले व्यक्ति ने कहा, "महाशय सुदर्शन से। मैं प्रेमचंद हूँ।"

इतना सुनते ही पं० सुदर्शन उनके पाँव की ओर झुके, मगर प्रेमचंदजी ने उन्हें फौरन गले से लगा लिया और बोले, "मुझे अफसोस है। कल आपको बेहद ज़हमत उठानी पड़ी। मगर भाईजान! आज मुझे भी सज़ा मिल गई। दो घंटे से बैठा हूँ।"

अपने एक संस्मरण में आज के प्रख्यात कहानीकार और नाटक-

कार पं० सुदर्शन ने लिखा है कि १९२५ में जब मुझे सिवान आर्य-समाज के वार्षिक उत्सव पर बुलाया गया, तब मैंने फैसला किया कि अबके प्रेमचंदजी से मिलता आऊँगा। चुनांचे उत्सव की समाप्ति पर बनारस पहुँचा और वहाँ से प्रेमचंदजी के गाँव की राह ली। उस समय मन में क्या-क्या विचार उठते थे, यह कहने की बातें नहीं; मगर वहाँ पहुँचकर सारा उत्साह बैठ गया—प्रेमचंदजी घर पर न थे। एक चिट लिखी और निराश होकर लौट आया। दूसरे दिन गंगा से नहा-कर होटल आया, तो देखता क्या हूँ कि मेरे कमरे के दरवाजे पर एक साहब बैठे किसी का इंतजार कर रहे हैं। मुझे देखते ही वे उठ बैठे और मुस्कुराकर बोले—नमस्ते।

हाँ, तो इस 'भाईजान' के लफ्ज ने पं० सुदर्शन के मन को मोह लिया। कुल दस-पंद्रह मिनटों में वे दोनों बेतकल्लुफ हो गए, ठीक वैसे ही, जैसे ये दोनों बरसों के दोस्त रहे हों। फिर बातचीत होने लगी। पं० सुदर्शन ने लिखा है कि इसके बाद उन्होंने प्रेमचंदजी से कुरद-कुरेद कर प्रश्न करना शुरू किया और वे खुलकर जवाब देने लगे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे अपनी ओर से, वे अपने मन के वास्तविक भाव को छिपाते न थे। संभवतः यह उनके स्वभाव का गुण था।

पं० सुदर्शन ने पूछा, "आपने नवाब राय नाम क्यों छोड़ दिया?"

प्रेमचंदजी हँसकर बोले, "नवाब वह होता है, जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ?"

पं० सुदर्शन ने कहा, "बे-मुल्क नवाब भी होते हैं।"

प्रेमचंदजी बोले, "यह कहानी का नाम हो जाय, तो बुरा नहीं। मगर अपने लिए यह नाम घमंडपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और

नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला; जिसमें ठंढक भी है, संतोष भी है।" और उन्होंने बड़े जोर का कहकहा लगाकर सारी बात उड़ा दी। इस कहकहा की स्मृति में प० सुदर्शन कहते हैं कि उनका वह खुले दिल का कहकहा और घनी मूँछों से बाहर झाँकती हुई मुस्कुराहट आज भी याद आती है तो कलेजे पर छुरियाँ-सी चल जाती हैं कि वह दिन कहाँ चला गया?

अब अलबम के कई सफे उलट डालिए। सन् १९२७ का जमाना आ गया। पं० सुदर्शन की कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित होनेवाला था और उनकी इच्छा थी कि इस संग्रह पर प्रेमचंदजी भूमिका लिखें। उन्होंने प्रेमचंदजी को लिखा:—

"मेरी कहानियों का एक संग्रह 'बहारिस्तान' छपने वाला है। मेरी इच्छा है कि इसमें आपकी भूमिका रहे। मगर डरता हूँ कि कोई मसलेहत आपके कलम को न पकड़ ले "

उत्तर प्रेमचंदजी ने लिखा, "आजाद-सी आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं। आपकी कहानियों पर दीबाचा लिखने में मुझे क्या एतराज हो सकता है? हम भी एक दूसरे के काम न आयेंगे, तो और कौन आयेगा?"

सन् १९२८ में सुदर्शनजी कानपुर में नौकरी करने लगे और तब यह स्वाभाविक था कि साहित्य-सेवा में कम समय दे सकते थे। लेकिन प्रेमचंदजी को शायद यह पसन्द न था कि पं० सुदर्शन जैसा प्रतिभाशाली व्यक्ति नौकरी करे और साहित्य उनकी अपेक्षित सेवाओं से वंचित रह जाए। दुखित होकर प्रेमचंदजी ने सुदर्शन को लखनऊ से एक बड़ा पत्र लिखा। इस सम्बन्ध में पं० सुदर्शन लिखते हैं:—

"वह पत्र न था, इबरत का ताज़याना था। शब्द ठीक ये न थे, पर भाव कुछ इसी तरह का था :—

'मैं तो समझता था, आप फारग़-उल-बाल होकर अदब की ज्यादा खिदमत कर सकेंगे। मगर, मेरा ख़याल ग़लत निकला। अब महीनों गुजर जाते हैं और आपका कोई क़िस्सा, किसी अखबार में नज़र नहीं आता। चार नहीं, दो सही, एक सही, लेकिन कुछ-न-कुछ तो हर महीने लिखते रहिए। इससे तो दर तंगदस्ती ही अच्छी थी, जो आपसे कुछ-न-कुछ लिखवा लेती थी।'

मगर जब मिलकर अपनी हालत का मैंने बयान किया, तो नरम पड़ गए। मैंने कहा, "कहिए, तो नौकरी छोड़ दूँ।" फौरन बोले, यह हिमाक़त न कर बैठना, वरना मुझे कोसोगे। हिन्दी-प्रकाशकों में इतना दम कहाँ, जो किसी लेखक को खाने-पीने की तरफ़ से बेनयाज़ कर दें।"—उनकी बड़ी ख्वाहिश थी कि दो-चार लेखक मिलकर प्रकाशन का काम साझे में करें। मगर मौत ने मुहलत न दी।"

प्रेमचन्दजी से पं० सुदर्शन की अन्तिम भेंट मार्च १६३४ में हुई। इस वक्त प्रेमचन्दजी बड़े अस्वस्थ से नजर आए। मगर वे साहित्य-सेवा का काम करते जाते थे। सुदर्शनजी जब उनसे मिलने गए, उस समय शाम हो चुकी थी। प्रेमचन्दजी तब भी लिख रहे थे। पं० सुदर्शन ने कहा, आप यह अपने ऊपर नहीं, हमारे ऊपर जुल्म कर रहे हैं।"

प्रेमचन्दजी हँसकर बोले, "शुक्र है, हम भी किसी के ज़ालिम तो हैं!"

पं० सुदर्शन ने कहा, "आप कहीं हवा-पानी बदलने के लिए बाहर क्यों नहीं चले जाते?"

प्रेमचन्दजी बोले, "बाहर जाने के लिए रुपया चाहिए।"

पं० सुदर्शन ने कहा, अच्छा, ज़रा मेहनत कम किया करें।"

प्रेमचन्दजी बोले, मजदूर मेहनत न करेगा तो खायगा कहाँ से?"

इस वार्तालाप के सम्बन्ध में पं० सुदर्शन ने लिखा है—"मगर प्रेमचन्दजी पैसे के लिए लिखते थे, यह कहना उनका अपमान करना है। उनके मन में मानव जाति के लिए जो संदेशा आता था, वह उसे लोगों के सामने रखने के लिए लिखते थे। वरना रुपया कमाना चाहते तो इतना कमा सकते थे कि उन्हें किसी चीज़ की परवाह न रहती। लेकिन उनमें सदा सिद्धान्त और कला का ख़याल रहा है। रुपया उनके लिए गौण वस्तु रहा है। तकलीफ़ और संकट में रहकर भी उन्होंने सेवा के महान् आदर्श को आँखों से ओझल नहीं होने दिया, यह उनके महापुरुष होने का द्योतक है।"

इसी बातचीत के क्रम में सुदर्शनजी ने कहा, "आप इन अखबारों को बन्द क्यों नहीं कर देते, अभी तक घाटे में जा रहे हैं।"

इस पर प्रेमचन्दजी ने उत्तर दिया, "आज आप कहते हैं, अखबार बन्द कर दो। कल कहेंगे, किताबें लिखना छोड़ दो। मैं आपकी कहाँ तक मानूँ?"

पं० सुदर्शन ने पूछा, "आखिर यह तपस्या आप ही क्यों करें?"

यह प्रश्न सुनकर प्रेमचन्दजी के चेहरे पर दोहरी मुस्कुराहट आ गई। वे बोले, "आप जिसे तपस्या कहते हैं; मैं उसे भोग समझता हूँ। तपस्या जब हो, जब तकलीफ हो। मुझे तो इसमें बराबर मज़ा आता है। जिसमें आदमी को मज़ा मिले, वह भोग है।"—प्रेमचंदजी ने आगे कहा, "भाईजान! सिर्फ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य

नहीं है मनुष्यत्व को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचा विचार पैदा कराना भी उसका कर्त्तव्य है। अगर यह नहीं है, तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं। और जिसके हाथ में भगवान ने क़लम और क़लम में तासीर दी है, उसका कर्त्तव्य तो और भी बढ़ जाता है।"

ज्योतिर्मय हंस उड़ गया

उदयपुर का एक सुन्दर साहित्यिक नवयुवक काशी की एक सड़क पर चला जा रहा है। कन्धे पर कहानियों और उपन्यासों से लदा झोला है। दिल में किसी असाधारण साहित्यकार से मिलने की उमंग है। गर्मी का मौसम है। ललाट पर पसीने की अगणित बूँदे हैं। देखिए, उसके पाँव किस तरह बढ़ रहे हैं। कभी तेजी से, उमंग से कभी धीरे-धीरे संकोच से। चाहे जैसे भी हो, वह बढ़ता ही चला जा रहा है। आखिर उसने चलते-चलते सरस्वती प्रेस तक की दूरी तय कर ली। और, अब देखिए, वह सरस्वती प्रेस में घुस गया—संकोच से भरा हृदय है।

और, वह देखिए, एक कम्पोजीटर बगल-रगड़-रगड़कर नहा रहा है। नवयुवक पूछता है, "प्रेमचन्दजी कहाँ विराजते हैं?"

"बगल के कमरे में।" कम्पोजीटर उत्तर देता है।

वह देखें, बगल का कमरा। दो-तीन व्यक्तियों से घिरी, मेज़ पर झुकी-सी, कागज-पत्रों के ढेर से आच्छादित एक मूर्ति पर उसकी नज़र पड़ती है। युवक के अन्तःकरण ने सौ ज़बान से कहा, "यही प्रेमचन्द हैं।" और दरवाजे पर खड़े-खड़े ही उस मूर्ति को वह युवक प्रणाम करता है।

ये नवयुवक थे—प्रसिद्ध कथाकार श्री जनार्दन राय और वह जीवित मूर्ति थी प्रेमचन्दजी की। प्रेमचन्दजी ने सहज भाव से जनार्दन राय को अन्दर बुला लिया और पुनः वे अपने कार्य में मशगूल हो गए। अत्यन्त सिकुड़कर बैठते हुए संकोच के साथ जनार्दन राय ने कहा, "मैं उदयपुर से आ रहा हूँ।"

किसी पत्र को देखते हुए सिर हिलाकर प्रेमचंदजी ने कहा,—"हुँ-हुँ ! जनार्दन न ? फिफ्थ इयर में आए हो न ?"

जनार्दन राय ने झेंपकर उत्तर दिया, "जी नहीं, थर्ड इयर में आया हूँ। बीच में दो वर्ष पढ़ना छोड़ दिया था।"

"अच्छा!" पत्र रखकर प्रेमचंदजी ने जनार्दन राय की ओर देखा।

इसके बाद जनार्दन राय ने अपना झोला खोला और प्रेमचंद के द्वारा लिखे गए पत्र निकाले। फिर कहा, "लखनऊवाली घटना के बाद, मैं समझता हूँ, अपना प्रमाण मुझे देना चाहिए। ये रहे आपके पत्र।"

प्रेमचंदजी सहज-सुलझी हँसी हँसकर बोले, "तो ? ये पत्र भी तो उड़ाये जा सकते हैं ? हा ! हा !! हा !!! मैं जान गया, तुम्हीं जनार्दन हो। अच्छा हुआ, यहाँ आ गए। ठीक हुआ।"

इसके बाद जनार्दन राय ने अपने झोले से कहानियों और उपन्यासों की पांडुलिपियाँ निकालीं और प्रेमचंदजी के आगे रख दिया। प्रेमचंदजी ने वे कृतियाँ अपने हाथ में ले लीं। उपन्यास की पांडुलिपि को उलट-पुलटकर प्रेमचंदजी बोले, "छपने में शायद आठ सौ पेज के आये ! खूब है भई ! अच्छा, इन सबको मैं देखूँगा। यहीं हो, अब तो ?"

उल्लिखित घटना के दस-बारह रोज बाद की चर्चा करते हुए श्री जनार्दन राय कहते हैं—"दस-बारह दिन बाद मैं बेनिया बाग में उनके निवास पर पहुँचा। मकान देखकर मन में संतोष हुआ; चलो, घर का घर तो अच्छा है। प्रेस है; यह घर है—हमारा यह युग स्रष्टा कलाकार अच्छी हालत में तो है। और, जब भूकम्प ने इस मनचाही को तोड़ना चाहा, तब मुझे सबसे पहले प्रेमचंदजी के घर की चिंता हुई थी—कहीं उसमें कोई खराबी न आ गई हो। पर, १६३८ में एक दिन बेनिया बाग वाले उसी मकान में एक पंजाबी ने हुक्का गुड़-गुड़ाकर मुझे टका-सा उत्तर दिया, "पेमचंद, वेमचंद यहाँ नहीं है।" तब कहीं मुझे मालूम हुआ 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' के लेखक को अपने घर का घर भी नहीं है।"

फिर जनार्दन राय प्रेमचन्दजी से मिले। इधर-उधर की बातचीत के बाद आपने प्रेमचन्दजी से पूछा, "आपने मेरी कहानियाँ तो पढ़ी होंगी?"

प्रेमचन्दजी बोले, "हाँ, अच्छी हैं। यदि इसे मैं अपने नाम से भेज दूँ, तो २५ रुपए मिल जायँ। कहानी की सभी बातें यहाँ हैं।"

सच्चा प्रोत्साहन पाकर जनार्दनराय का हृदय पुलकित हो उठा। थोड़ी देर रुककर प्रेमचन्दजी ने आपसे पूछा, "क्या चाहते हो?"

जनार्दन राय बोले, "आपकी इच्छा हो, वह कीजिए। मैं तो तुष्ट हो गया। ये मैंने आपही के लिए लिखी थी। आपको रुचीं, मैं सफल हुआ।"

प्रेमचन्दजी ने गहरी दृष्टि से जनार्दन राय का अंतर टटोलते हुए पूछा, "फिर भी?"

जनार्दन राय बोले, "यदि आप मुझे हिंदी-सेवा के योग्य समझते

हों, 'हंस' के उपयुक्त इन्हें समझते हों—मुझे प्रोत्साहन के योग्य मानते हों, तो इन्हें प्रकाशित करिये। अन्यथा आपके चरणों में ही इन जैसे-तैसे फूलों को रहने दीजिए। आपही मेरे परीक्षक हैं।"

इसके बाद 'हंस' में प्रेमचन्दजी ने जनार्दन राय की अनेक कहानियाँ प्रकाशित कीं।

एक बार की बात है। प्रेमचन्दजी और जनार्दन राय में वार्तालाप हो रहा था। उन्हीं दिनों श्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' द्वारा लिखित पुस्तक 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' पुस्तक प्रकाशित हुई थी। श्री जनार्दन राय ने इस संबंध में अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण प्रेमचन्दजी के सामने रखा। जनार्दन राय बोले,"आप पर तो सात सौ पृष्ठ का पोथा होना चाहिए।"

प्रेमचन्दजी कुछ किलककर बोले, "तुम लिखना।"

जनार्दन राय ने कहा—"यह एक तीव्र कामना है·····।"

प्रेमचन्दजी ने बीच ही में बात काट दी। बोले, "अभी नहीं, मैं मर जाऊँ; उसके बाद!"

प्रेमचन्दजी के इस छोटे से वाक्य से उनका यह सिद्धांत स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि कलाकार को अपनी प्रशंसा के पीछे न दौड़कर अपने कर्तव्य और दायित्वों की ओर दौड़ना चाहिए। जो कलाकार प्रशंसा की ओर ही दौड़ेगा, उसकी आँखें दायित्व की ओर से मुड़ जायँगी और वह कला की सच्ची उपासना नहीं कर सकेगा।

एक दिन जनार्दन राय ने प्रेमचंदजी से पूछा, "साहित्य-सेवा किस प्रकार की जाय?"

प्रेमचन्दजी ने सहज भाव से कहा, "अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिख-

कर। उसके लिए न सभा की जरूरत है, न समाज की। उसके लिए चरित्र की, हृदय की, तपस्या की जरूरत है। बस!"

जनार्दन राय के एक पत्र के उत्तर में प्रेमचन्दजी ने लिखा था— "जितना पवित्र हमारा जीवन होगा, उतना ही शुद्ध हमारा साहित्य होगा। अमीरी प्रतिभा के लिए अनुकूल भूमि नहीं है। इसमें कुछ ऐसी बातें हैं, जो ग़रीबी में ही फल सकती हैं....।"

प्रेमचन्दजी ने एक बार आपसे कहा, मैं "तुम्हें यों ही मुँह नहीं लगा रहा हूँ। तुममें मैंने प्रतिभा पायी है। अब मेरा धर्म है, उसे रास्ते पर लगा दूँ। सबसे पहली बात चरित्र चाहिए, एक पागल साधना-प्रेम चाहिए—उसका कुछ मैं तुममें देख सका हूँ।"

अपनी एक रचना का नाम लेते हुए जनार्दन राय ने प्रेमचंद से पूछा, "कीचड़ का कमल, आपने पढ़ा है।"

प्रेमचंदजी बोले, "ढाई सौ पन्ने तो हम एक ही दफा में पढ़ गए। मैं समझता हूँ, हिंदी की टोन बढ़ रही है। पर भुवनेश्वरी के चरित्र से मैं सहमत नहीं होता। तुमने उसे खींचा तो ठीक है; पर पुलिस की रिपोर्ट तो कुछ नहीं है।"

जनार्दन राय ने उस पर विनम्र होकर उज्र किया, "पर लेखक यथार्थ के चित्रण में जीवन ही तो खींचता है। पुलिस की रिपोर्ट और लेखक का वह चित्रण तो दो वस्तुएँ हैं—।"

प्रेमचंदजी बोले, "पर, यथार्थ के नाम में विकारों का चित्रण तो न होना चाहिए। जीवन का अंधकार तो है; उसे हम क्यों अंधकार ही चित्रित करें? कलुष तो है, उसे हम सौंदर्य में क्यों न बदल दें? जीवन में होता भी यही है। दुनिया तो दुःखमय है; पर क्या दुखमय जीवन में सुख की रचना हम नहीं करते?"

इस प्रकार के प्रश्नोत्तर के क्रम की चर्चा में श्री जनार्दन राय कहते हैं,—उस समय तो मैं सहमत होने के लिए हो गया। नन्हीं मछली मगर के सामने ठहर कैसे सकती ? और, मुझे 'हाँ-ना कहने का अधिकार ही क्या था ! किताबों में पढ़े गए यूरोपीय फतवे मेरे दिमाग में चक्कर काट रहे थे; मैं भी उस बीमारी से पीड़ित था, जिससे आज हमारे ढेरों लेखक पीड़ित हैं। यथार्थ की आँखें रंगीनी ही तो देखती हैं। वह मन विनोद खोजता है; बताशे चाहता है; वह भोग चाहता है; जो निर्माण नहीं करता है, क्षय करता है; नाश करता है। जीवन के सतत भोग में हमें जीवित कौन रखता है, मैं सोचता हूँ। और, आज एक प्रतिध्वनि उठती है —आदर्श की साधना।

एक रोज काशी में ही, जनार्दन राय प्रेमचंदजी के साथ 'आज' कार्यालय के पास से गुजर रहे थे। प्रेमचंदजी ने जनार्दन राय से कहा, "मैं तो हिंदी में यों ही आ गया हूँ। मुझे साहित्य-सेवा का अधिकार ही नहीं। मैं तो अब चला; जिंदगी खतम हुई। पर, तुम्हारे सामने अभी जीवन-का-जीवन पड़ा है। तुम सच्चे साहित्य-सेवी बनो।"—फिर थोड़ी देर मौन होकर प्रेमचंदजी ने कहा, "अपने मार्ग, अपने अध्ययन, अपनी फिलॉसफी के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं हो सकता। अपनी आँखों से जीवन देखो; अपने अनुभव से उसे जाँचो। जैसा पाओ, वैसा लिखो।"

दिल्ली में साहित्यकारों का एक बहुत विराट सम्मेलन होने वाला था। उसके सभापति शायद प्रेमचंदजी ही होने वाले थे। जनार्दनराय ने आपसे पूछा, "आप सभापति बनने पर राजी होंगे ?"

सहज हास्य के बाद प्रेमचंदजी ने कहा, "बना भी तो दें !"—

फिर उन्होंने आगे कहा, "हिंदी में न आज हमें पैसे मिलते हैं, न यश मिलता है। दोनों ही नहीं। इस संसार में लेखक को चाहिए कि किसी की भी कामना किये बिना लिखता रहे। तुम्हें लिखना हो, तो यह बात नोट कर लो। हिंदी को तपस्वी चाहिए।"

दिल्ली-सम्मेलन की चर्चा करते हुए जनार्दन राय लिखते हैं—प्रदर्शिनी का उद्‌घाटन हो चुका था। और प्रेमचन्दजी एक झुण्ड में खड़े थे। बोले, "कोई नाई तो खोज लाओ।"

शायद किशोरी लाल बाजपेयी थे। वे बोले, "अब तक आपकी हजामत नहीं हुई।" इशारा श्रीनाथसिंहजी के आंदोलन की ओर था।

श्री जनार्दन राय के कथनानुसार प्रेमचन्दजी दिल्ली में जितने रोज रहे, उतने रोज में केवल एक ही फिल्म देखी। फिल्म-जगत के वातावरण से वे पूर्णतया क्षुब्ध थे। वहाँ से उन्होने एक पत्र में लिखा था—

"धन कमाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। कब 'मे' खतम हो और कब उठूँ? वहाँ फिर मजे में गप-शप होगी। मैं तो वहाँ आदर्श के प्रचार के लिए गया था, पर डायरेक्टर के राज में कुछ नहीं हो सकता।"

इसके बाद प्रेमचन्दजो अधिक बीमार ही रहे और यह बीमारी का क्रम उनके महाप्रयाण के साथ ही टूट सका। 'आज' के प्रतिनिधि से प्रेमचंदजी ने कहा था, "हाँ, जन्म-मरण का चक्र तो चलता ही रहता है।"

प्रेमचन्द की बीमारी की बढ़ती दशा देखकर जनार्दनराय ने उनसे पूछा, "यदि कहीं कुछ हो गया, तो क्या होगा?"

प्रेमचन्दजी बोले, "क्या होगा, मर ही तो जाऊँगा। तुम लोग हो। और फिर कौन जाने, मैं मरूँगा ही।"

अपने अंतिम दिनों में प्रेमचन्द ने जनार्दन राय से कहा था, "मैं एक बुढ़िया का हृदय चाहता हूँ, जनार्दन! यों अब जीया नहीं जाता!"

—+S:****:S+—

संघर्ष से खेलते रहे

लखनऊ के अमीनुद्दौला पार्क की सहन के बीच एक नवयुवक खड़ा है। साथ का सामान सामने की एक दूकान के तख्ते पर रखा है। और, वह आस-पास से गुजरते हुए करीब प्रत्येक व्यक्ति से पूछ रहा है—"जी, माफ कीजिएगा, प्रेमचन्दजी का मकान आप बतला सकते हैं? नजदीक ही कहीं है। जी हाँ, प्रेमचन्द।"

उत्तर मिला, "प्रेमचन्द! कौन प्रेमचन्द!"

युवक कहता है, "जी वही आला मुसन्निफ़। नावलिस्ट। वह एडिटर भी तो हैं साहब। मशहूर आदमी हैं।"

"एँ....एँ, पि....रे...म....च ....द"। और वे सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर युवक से क्षमा माँग उठे।

फिर वह युवक सोचता है—उन्होंने पत्र में लिखा था—"अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओगे ही। ज़रूर आओ।"

आसपास कई मकान हैं और उनमें कई लाल है। अन्त में एक व्यक्ति उस युवक को मिलता है। युवक उस व्यक्ति से पूछता है, "भाई, प्रेमचन्दजी का घर बता सकते हो?"

व्यक्ति पूछता है, "मुन्शी प्रेमचन्द?"

"अच्छा, मुन्शी ही सही।"

"वह तो है।"—कहकर व्यक्ति युवक को रास्ता बतलाने को तैयार हो गया। युवक कहता है, ठहरो, ज़रा सामान ले लूँ। और वह व्यक्ति युवक के साथ-साथ आकर बिना कुछ कहे-सुने युवक का सामान उठा लेता है। फिर युवक के साथ चलता है और प्रेमचन्द के मकान के आगे सामानों को रखकर कहता है, "घर यह है। अब गुहार लो।"

युवक ने आवाजें लगायीं। पर उसकी आवाज इतनी धीमी थी कि दुमंजिले तक नहीं पहुँच सकी। साथ का व्यक्ति जोरों से पुकारता है—"बाबूजी, बाबूजी ?"

थोड़ी देर बाद जीने के ऊपर से आवाज आती है—"कौन साहब हैं ?"

उत्तर मिलता है—"मैं जैनेन्द्र !"

"आओ भाई !" बोले प्रेमचन्द।

यह घटना सन् १९२० की जनवरी की है। अब तक जैनेन्द्रजी में केवल पत्राचार के द्वारा परिचय था। व्यक्तिगत तौर पर दोनों एक दूसरे से अपरिचित थे। इस घटना के बाद हुई बातचीत के बारे में जैनेन्द्रकुमार के अनुसार दोनों में तरह-तरह की साहित्यिक बातें हुईं।

जैनेन्द्र ने कहा, बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं ? तो इसका क्या कारण है ?"

प्रेमचन्दजी बोले, सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।"

प्रेमचन्दजी से उत्तर पाकर जैनेन्द्रजी ने उनकी ओर देखा, स्त्रीत्व है, इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है !"

प्रेमचन्दजी बोले, "हाँ, तो वह जगह-जगह (Reminiscent) (स्मरणातीत) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक हो जाता है—विधायकता के लिए दोनों चाहिए।" फिर वे थोड़ी देर मौन होकर बोले, "जैनेन्द्र, मुझे ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भावना से पहुँचा जाता है। लेकिन, जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिए...।"

फिर भी कुछ लज्जित-से हो उठे। बोले, "जैनेन्द्र, शरत् और रवि दोनों महान् हैं। पर, हिंदी के लिए क्या वही रास्ता है? शायद नहीं। हिंदी राष्ट्रभाषा है, मेरे लिए तो वह राह नहीं है।"

इसी बातचीत के क्रम में दिन अधिक चढ़ गया। अंदर से खबर आई कि अब तक दवा लाकर नहीं रखी गई है। खबर मिलते ही उठकर खड़े हो गए और सहज भाव से बोले, "ज़रा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र! देखो, बातों में कुछ खयाल ही न रहा।"

फिर उन्होंने बड़े जोरों का कहकहा लगाया। बाद इसके जैनेन्द्रजी से बोले, "और, तुम भी तो अभी शौच नहीं गए होगे। वाह, यह खूब रही!"

फिर वे शीशी लेकर दवा लेने के लिए बाहर निकल गए।

जब तक जैनेन्द्रजी वहाँ ठहरे, वार्तालाप होते रहना स्वाभाविक था। इन्हीं दिनों प्रेमचन्दजी सरस्वती प्रेस से 'हंस' निकालने का निश्चय कर रहे थे। जैनेन्द्रजी ने पूछा, "प्रेस छोड़कर, अपने गाँव का घर छोड़कर, यहाँ लखनऊ में नौकरी करें, ऐसी क्या आपके साथ कोई लाचारी है?"

पिछले अध्याय में पाठक जान चुके हैं कि प्रेमचन्दजी ने असहयोग में नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया था। फिर इसके बाद प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी को बतलाया कि फिर तो असहयोग ही एक काम रहा। और करते क्या ? इसी उत्तर के क्रम में जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी से पूछा, "आपके हाथ में तो कलम थी, फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें ?"

प्रेमचन्दजी बोले, "नहीं जैनेन्द्र ! तुम्हारा ख्याल ठीक नहीं है। यह मुल्क विलायत नहीं है। विलायत हो जाय, यह भी शायद मैं नहीं चाहूँगा।"

फिर प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी को बतलाया कि यहाँ लिखने पर निर्भर रहकर काम नहीं चल सकता। जब बुरी परिस्थितियाँ गले आकर पड़ गईं, तो उन्होंने प्रेस में तालाबंदी कर दी। चारों ओर से पैसे के अभाव को चहारदीवारी खड़ी हो गई। इन परिस्थितियों का बयान करते हुए प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी से कहा, "अब बताओ, जैनेन्द्र ! क्या अब भी नौकरी न करता ? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है ! प्रेस प्रवासीलाल चलाते हैं।"—'हंस' निकालने की चर्चा करते हुए आपने पूछा, "क्या राय है।"

और, इसी क्रम में प्रेमचन्दजी ने बतलाया कि प्रेस में एक मासिक पत्रिका 'हंस' निकालने की राय है। जैनेन्द्रजी ने पूछा, "पत्रिका निकालने का क्यों तय किया है ?"

प्रेमचन्दजी बोले, "प्रेस का पेट भरना है कि नहीं ? छपाई का काम काफी नहीं आता और फिर हमारा यह साहित्य का शग़ल भी चलता रहेगा।"

जैनेन्द्रजी बोले, "अच्छा तो है।"

प्रेमचन्दजी ने कहा, " 'हंस' को कहानियों का अखबार बनाने

का इरादा है। उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए। ईश्वरीप्रसादजी को जानते हो न? नहीं? खैर, शाम को 'हंस' का कवर-डिजायन लायेंगे जिंदादिल आदमी हैं, मिलकर खुश होंगे। कहानियों का एक अखबार हिंदी में हो, इसका वक्त आ गया है। क्यों?"

जैसा कि जैनेन्द्रजी अपने बारे में लिखते हैं, उसके अनुसार सन् १६ में उन्होंने जो कुछ लिखा, वह जैसे अकस्मात् लिख डाला। उन दिनों 'माधुरी' का प्रकाशन लखनऊ से होता था और प्रेमचन्दजी उसके संपादक थे। जैनेन्द्रजी ने बड़ी हिम्मत करके एक रचना डाक से भेज दी और लिख दिया—"यह संपादक के लिए नहीं है. ग्रंथकर्त्ता प्रेमचन्दजी के लिए है। छापे में आने योग्य मैं हो सकता ही नहीं हूँ, पर लेखक प्रेमचन्द उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें, तो मैं अपने को धन्य मानूँगा।"

कुछ दिनों के बाद वह रचना सधन्यवाद वापस आई और साथ की स्लिप की पीठ पर फीकी स्याही में लिखा था—"Please ask if this is a translation." इसके बाद फिर जैनेन्द्रजी ने एक कहानी भेजी और लिख दिया कि 'लेखक प्रेमचन्दजी की इस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है। छपने लायक तो यह होगी ही नहीं।" इसके उत्तर में जैनेन्द्रजी को एक कार्ड मिला, जिस पर स्वयं प्रेमचन्द-जी ने लिखा था—

"प्रिय महोदय,

दो या तीन महीने में 'माधुरी' का विशेषांक निकलने वाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गई है।"

प्रेमचन्दजी के इस सौहार्दपूर्ण उत्तर से जैनेन्द्रजी को काफी प्रोत्साहन मिला और वे अपने को छपा देखने के लिए उतावले हो

गए। उन्होंने लिखा—"अगर यह कहानी छपने योग्य है, तो अगले अंक में ही छपा दीजिए। विशेषांक के लिए और भेज दूँगा।"

प्रेमचन्दजी की ओर से उत्तर मिला, "प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषांक के लिए चुन ली गई है। उसी में छपेगी।"

यह कहानी थी 'अंधे का भेद' और यह 'माधुरी' के विशेषांक में ही छपी। इसके बाद तो दोनों में पत्र-व्यवहार होने लगा। ध्यान रहे कि प्रेमचन्दजी से जैनेन्द्रजी को अब तक व्यक्तिगत रूप से मिलने का मौका न मिला था। प्रेमचन्दजी अपने पत्रों द्वारा ही उन्हें उत्साहित करते रहे। इसके कुछ रोज के बाद जैनेन्द्रजी ने एक नई कहानी छपने के लिए प्रेमचन्दजी के पास भेजी और उसे अस्वीकार कर लौटाते हुए प्रेमचन्दजी ने उन्हें लिखा कि कहानी में 'यह' होना चाहिए और कहानी 'ऐसी' होनी चाहिए। जैनेन्द्रजी इस बात की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"मेरी धृष्टता तो देखो, मैंने शंका की कि कहानी में क्यों 'यह' होना चाहिए और क्यों कहानी 'ऐसी' ही होनी चाहिए?"

परंतु, जैनेन्द्रजी के इन प्रश्नों से प्रेमचन्दजी तनिक भी रुष्ट अथवा कुपित न हुए। उन्होंने उत्तर देते हुए लिखा—"मुझे निर्भ्रांत न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे उपयोगी हो जायँ, तब बेशक उन्हें उल्लंघनीय मानना चाहिए।" बाद इसके उन्होंने जैनेन्द्रजी से कई बार कहा, "जैनेन्द्र, हम समाज के साथ हैं, समाज में हैं।"

अब मैं तब की चर्चा कर रहा हूँ, जब सन् ३०' में जैनेंद्रजी पहली

बार लखनऊ में प्रेमचन्दजी से मिले थे। खाना खा-पीकर प्रेमचन्दजी दफ्तर चलने के लिए तैयार हो गए। आपने जैनेन्द्रजी से पूछा, "जैनेन्द्र, चलो, दफ्तर चलते हो ?"

जैनेन्द्रजी तो साथ चलने को उतावले थे ही। दोनों मकान से बाहर निकले। बाहर आकर प्रेमचन्दजी ने एक इक्के वाले को पुकारा, उससे भाड़ा तय किया और फिर उसकी कुशलता भी पूछी। जैनेन्द्रजी का कहना है कि एक इक्के वाले के प्रति उनकी यह आत्मीयता देखकर वे चकित रह गए। फिर वे दोनों इक्के पर बैठकर चले। रास्ते में प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी से पूछा, "कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?"

जैनेन्द्रजी ने पूछा, "आपकी क्या राय है ?"

प्रेमचन्दजी बोले, "क्या बताऊँ; दफ्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं, भाई, उनकी बताई कई बातें ऐसी सही बैठी हैं कि कह नहीं सकता, यह सारा शास्त्र पाखंड है।"

जैनेन्द्रजी ने कहा, "तो आप विश्वास करते हैं ? मैं तो कभी नहीं कर पाया।"

प्रेमचन्दजी बोले, "इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसंधान में लगे हैं, उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं ?"

जैनेन्द्र को तनिक विस्मय हुआ। वे बोले, "तो विश्वास करना ही होगा ? आप ईश्वर में जो विश्वास नहीं करते हैं ."

इस पर प्रेमचन्दजी थोड़ा गंभीर हो गए। फिर बोले, "जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उनका विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ, जब देखता हूँ, बच्चा बिलख रहा

है, रोगी तड़प रहा है। यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है। वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा कसूर है? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो?"

आफिस में पहुँचकर प्रेमचन्दजी ने उस दफ्तरी मित्र से जैनेन्द्रजी का हाथ दिखलवाया। जैनेन्द्रजी के कथनानुसार उस दफ्तरी ने जो बातें बतलायी थीं, वे सारी बातें गलत थीं। लेकिन जैनेन्द्रजी ने अपनी यह धारणा प्रेमचन्दजी से प्रकट नहीं की। दफ्तर से लौटते वक्त प्रेमचंद ने जैनेन्द्र से पूछा, "कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो?"

जैनेन्द्रजी बोले, "सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते हो? वह ज्यों-का-त्यों है यानी दृढ़ नहीं हुई।"

अपने इस उत्तर के बाद के सम्बन्ध में अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए जैनेन्द्रजी लिखते हैं—"यह सुनकर जैसे प्रेमचन्दजी को दुःख हुआ। दूसरों के अनुभव-ज्ञान की यह उन्हें अवज्ञा ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्दजी के मन में यों मूलतत्त्व—अर्थात् ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हों—कट्टर नहीं थे।"

इसके बाद सन् ३० का राष्ट्रीय आंदोलन आ गया और बहुत-से लोग जेलों में गए। जैनेन्द्रजी को भी सजा हुई थी। 'हंस' निकल गया था। प्रेमचन्दजी को सजा नहीं हुई थी। जबकि जेल में प्रेमचंदजी नहीं थे और बाहर रहकर साहित्यिक तपस्या कर रहे थे, उस वक्त जैनेन्द्रजी राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने के कारण जेल चले गए। पिकेटिंग में भाग लेने के कारण शिवरानी देवी को भी दो माह की

सजा हो गई थी। जैनेन्द्रजी को प्रेमचन्दजी ने ख़त जेल ही में भेजा था। उसमें उन्होंने जैनेन्द्रजी को लिखा था—"मेरी पत्नीजी भी पिके-टिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गई हैं। कल फैसला हुआ है। इधर पंद्रह दिनों से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा कर ही रहा था कि उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बंद कर दिया।"

फिर एक दूसरे पत्र में उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा—

"......'ग़बन' अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली को निभाए जाता हूँ। कथा को बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, यह मेरे लिए मुश्किल है।"

फिर उन्होंने जैनेन्द्रजी को मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा—

"पुरस्कारों का बिचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय, तो ले लूँगा, पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाय। (अमुक) या (ऊमुक) पा जायँ, मुझे समान हर्ष होगा।"

फिर प्रेमचन्दजी ने आगे लिखा—

"मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रसाद-स्कूल प्रेमचन्द-स्कूल की चर्चा की थी। शैली में जरूर कुछ अंतर है, मगर वह अंतर कहाँ है—यह मेरी समझ में खुद नहीं आता।....प्रसादजी के यहाँ गंभीरता और कवित्व अधिक है। Realist हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं देखता, बल्कि उसके वांछित रूप ही को देखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।"

प्रेमचन्दजी कितने विनयशील, स्पष्टवादी और लेखकों को प्यार

करने वाले थे, इसका पता आपके जैनेन्द्र के नाम लिखित निम्न पत्र से चल जायगा—

'प्रिय जैनेन्द्रजी,

मैं थर-थर काँप रहा हूँ कि आप 'हंस' में पुस्तकों की आलोचना न पायेंगे, तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था, इसे अवश्य छापना। पर, मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गई। आपकी कहानी भी रह गई। अब वे सब फरवरी के अंक में जा रही हैं, क्षमा कीजिएगा।

'गबन' छप गया है। बाइन्डिङ्ग होते ही पहुँचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूँगा।

भवदीय,

धनपत राय'

अपनी व्यावसायिक और मानसिक चिन्ता के सम्बन्ध में उन्होंने जो एक पत्र जैनेन्द्रजी को लिखा था, साहित्य और काल की दृष्टि से इस पत्र का असाधारण महत्त्व है। लिखते हैं :—

'प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए मिला। मैं आशा कर रहा था देहली (घर) से आ रहा होगा, पर आया लाहौर जेल से! खैर, लाहौर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उसके कई दिन पहले मैंने मुलतान एक पत्र भेजा था। शायद वह लौटकर आ गया हो, तुम्हें मिल गया हो। अच्छा, मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर ज़मानत लगी। मैंने समझा था, आर्डिनेन्स के साथ ज़मानत भी समाप्त हो जायगी। पर, नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ ज़मानत भी बहाल कर

दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गए, तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, ज़मानत माँगी। अब मैंने गवर्मेण्ट को एक स्टेटमेण्ट लिखकर भेजा है। अगर ज़मानत उठ गई, तो पत्रिका तुरन्त निकल जायगी। छपकर, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी, तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपए हैं, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपए हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।

इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। 'जागरण' के बारह अंक निकले, लेकिन ग्राहक-संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया, लेकिन किसी की वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें, तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी को निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान है। मैं जब तक इसे चलाता हूँ। फिर वह तुम्हारी ही चीज़ है। धन का अभाव है, 'हंस' में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। यह कुछ चल जायगा, तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूँगा। अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा!'

'कर्मभूमि' के तीस फार्म छप चुके हैं। अभी क़रीब छः फार्म बाकी हैं। अब उसे जल्द समाप्त करता हूँ। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ही ममताशून्य फैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है।

'....इधर पंडित श्रीराम शर्मा का शिकार, स्वामी सत्यदेवजी की कहानियों का संग्रह, डा० रवीन्द्रनाथ की षोडशी आदि पुस्तकें निकली हैं। बाबू वृन्दावनलालजी का 'कुंडली चक्र' बड़े शौक से पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं। गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक।'

जैनेन्द्रजी के नाम यह उलाहना-भरा पत्र पढ़िए। देखिए, इसमें कितना मीठापन है :—

प्रिय जैनेन्द्र,

आदाब-अर्ज ! भाई वाह ! मानता हूँ। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मैटर भी जाने वाला है। जुलाई बीस तक निकल जायगा। लेकिन, हजूर को याद ही नहीं। क्यों याद हो आये ! बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपए तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन, यश तो मिल गया है। और, यश के धनी, धन के धनी से क्या कुछ (कम) मग़रूर और भुलक्कड़ होते हैं।

'अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है ? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो ? न कहानी भेजते हो, न ख़त भेजते हो। कहानी न भेजो, ख़त तो भेजते रहो। मैं तो इधर बहुत परीशान रहा। याद नहीं आता, अपनी कथा कह चुका हूँ। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी-सी है। बच्चा भी किस तरह बच गया। आज बीस दिन हुए, यहाँ आ गई है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया। महीनों उसमें लगे। दस्त आए और अभी तक

कुछ-न-कुछ शिकायत बाक़ी है। दाँतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है। और, अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ।

'काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिन्दी में। हाँ कुछ अनुवाद का काम किया है।

'तुमने क्या कर डाला, अब बताओ। (वह प्रबन्ध) निभा जाता है या नहीं? कोई नई चीज़ कब आ रही है? बच्चा कैसा है। भगवती देवी कैसी हैं? महात्माजी कैसे हैं? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम खामोश हो?

'सरस्वती' में वह नोट तुमने देखा? आज•••मालूम हुआ कि यह (अमुक) जी की दया है। ठीक है। मैं तो ख़ैर बूढ़ा हो गया हूँ और जो कुछ लिख सकता था, लिख चुका और मित्रों ने मुझे आस्मान पर भी चढ़ा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार! भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानी बहुत सुन्दर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है····कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' लिख डाला। इसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रॉपेगेंडा का ज़ोरों से मुक़ाबला करना होगा।····'

तिथि २०–४–३४ को जो पत्र प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी को लिखा था, उनके बाद उन्होंने जैनेन्द्रजी को फिर दूसरा पत्र लिखा, जो निम्न प्रकार था।

'भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से तो इतना कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियाँ फलाँ पते पर भेज देना। बस बोरिया-बक्सा सँभाला और चल पड़े। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिटेल्ड ख़त लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ्तर में पड़ा होगा।····

(मैंने शायद तुम्हें लिखा है कि) मुझे बम्बई कंपनी बुला रही है। क्या सलाह है ? मुझे तो हरज नहीं मालूम होता, मगर वेतन ७-८ सौ मिले। साल-दो-साल करके चला आऊँगा। मगर अभी मैंने जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके हैं। प्रसादजी की सलाह है, 'आप बम्बई न जायँ।' तुम्हारी भी अगर यही राय है, तो मैं बम्बई न जाऊँगा। जौहरीजी कहते हैं, जरूर जाइए और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है, जरूर चलो। जीवन का यह भी एक अनुभव है।'

फिर फिल्म में प्रेमचन्दजी गए ही। लेकिन, वहाँ का वातावरण उनके विचारों के सदा प्रतिकूल ही रहा। वहाँ के वातावरण से वे पूर्णतया क्षुब्ध रहे। वहाँ से उन्होंने जैनेन्द्रजी को लिखाः—

'मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आए हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। (Vulgarity) को ये (Entertainment Value) कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड़यंत्र, नकली लड़ाई, धोखेबाजी, ये ही उनके मुख्य साधन हैं। सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी दे। लेकिन उनको संदेह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अंतिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।"

प्रेमचन्दजी की एक कहानी का फिल्म बना था—'मजदूर'। इसकी चर्चा करते हुए प्रेमचन्दजी ने अपने एक पत्र में जैनेन्द्र को लिखाः—

'मजदूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता हूँ। इसके बाद ही एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मजदूर' में भी मैं इतना जरा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फिल्म में डायरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डायरेक्टर का अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने, तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता। मैं जनरुचि को जानता हूँ, आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डायरेक्टर जोर से कहता है, 'मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है। और, हम यहाँ जनता की इसलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज़ है। जो चीज जनता माँगेगी, वह हम देंगे।' वही मैं कर रहा हूँ। मई के अंत में काशी में बंदा उपन्यास लिख रहा होगा। और, मुझमें कुछ नई कला सीखने की भी सिफ़त है। फिल्म में मेरे मन को संतोष नहीं मिला। संतोष डायरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लॉट सोचता हूँ उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है—उसमें Entertainment value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिंदी जानें न उर्दू। अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मज़े की है। जो चाहा, लिखा।

'....मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है, जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती, न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक।

स्टूडियो गए, घर आए। हिंदी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस। ..'

दिल्ली में साहित्य-सम्मेलन हुआ और सभापति प्रेमचन्दजी को बनाया गया। पर. मुसीबत यह कि वे आने के लिए राज़ी ही नहीं हो रहे थे। जैनेन्द्रजी ने उन्हें कई पत्र लिखे, तार दिया और तब प्रेमचन्दजी ने तार द्वारा ही अपनी स्वीकृति भेजी—Well, I accept with protest.

प्रेमचन्दजी को भीड़ पसंद नहीं थी। इस संबंध में अपनी ओर से जैनेन्द्रजी लिखते हैं:—

"वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह थी कि भीड़ में पड़कर वह उस भीड़ को समझते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। वह सभा और सम्मेलन उनको पाकर भी विशेष लाभान्वित होते, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी, पर ऐसा लगता था कि प्रेमचन्दजी उस सभा में भाग क्यों ले रहे हैं, मानों उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।"

दिल्ली-सम्मेलन के बहुत समीप की घटना है। प्रातःकाल एक गली के रास्ते से कंधे पर कम्बल डाले, चले जा रहे हैं। पं० सुन्दरलालजी और महात्मा भगवानदीन जैनेन्द्रजी के घर पर थे। सुन्दरलालजी चबूतरे पर बैठे दातुन कर रहे थे। उन्होंने जैनेन्द्रजी का ध्यान आकृष्ट कराते हुए पूछा, "जैनेन्द्र, यह प्रेमचन्दजी तो नहीं आ रहे हैं?"

जैनेन्द्रजी बोले, "जी, वही तो हैं।"

जब प्रेमचन्दजी सबके समीप आ गए तो जैनेन्द्रजी ने पूछा,

"यह क्या किस्सा है ? न तार, न चिट्ठी और आप करिश्मे की भाँति आविर्भूत हो उठे !"

प्रेमचन्दजी बोले, "तार की क्या जरूरत थी ? बारह आने पैसे कोई फालतू हैं ! और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं ?"

जैनेन्द्रजी ने कहा, "यह क्या गज़ब करते हैं। पहले से कुछ खबर तो दी होती। इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्कत हुई होगी। ग़नीमत मानिए कि दिल्ली बंबई नहीं है। और, ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाकिफ़ हैं ?"

प्रेमचन्दजी बोले, "नहीं जी, सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जाएगा, सो, बारह आने बचाओ क्यों ना ! और मकान मिल गया कि नहीं ? और दिल्ली—जिन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ।"

जैनेन्द्रजी ने अविश्वास के साथ कहा, "आप कहते क्या हैं ! तिस-पर आप हैं–सम्राट् !"

इसपर प्रेमचन्दजी ने अपना वह स्वाभाविक ठहाका लगाया कि सारा वातावरण उस गूँज से कंपित हो उठा !

सन्' ३४ का ज़माना था। प्रेमचन्दजी अपने बेनियाबाग वाले मकान में रहते थे। सुबह का वक्त था। जैनेन्द्रजी प्रेमचन्दजी के यहाँ आए थे। और, शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर जैनेन्द्रजी उनकी एक पांडुलिपि पढ़ रहे थे। उसी समय प्रेमचन्दजी ऊपर से आए और जैनेन्द्रजी से पूछा, "तुम नहा चुके ?"

जैनेन्द्रजी बोले, "नहा चुका।"

प्रेमचन्दजी ने कहा, "मुझे आज देर हो गई।" और कहते-कहते

वे नीचे फर्श पर बैठ रहे। जैनेन्द्रजी से इस मुलाकात के पूर्व प्रेमचन्द-जी ने 'यामा' नामक रूसी उपन्यास पढ़ा था। उसी की ओर संकेत कर प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी से कहा, "भई जैनेन्द्र, सब Powerful है।"—प्रेमचन्दजी ने आगे कहा, "कहीं-कहीं तो जैनेन्द्र मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेकाबू हो गया।"

कुछ मिनट रुककर प्रेमचन्दजी ने कहा, "एक जगह तो ऐसा हुआ कि उससे आगे पढ़ा ही न गया जैनेन्द्र, किताब हाथ से छूट गई।"

प्रेमचन्दजी की इस गुणग्राहकता और भावुकता का चित्र खींचते हुए जैनेन्द्रजी ने लिखा है:—

"सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी काँप कर मूक हो गई है। आँख उठाकर देखा—उनका चेहरा एकाएक मानों राख की भाँति सफेद हो आया है। क्षण-भर में सन्नाटा हो गया। मुझे जानें क्या चीज छू गई। पल भर में मानों एक मूर्छा व्याप गई। और, पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचन्दजी का सौम्य-मुख एकाएक बिगड़ उठा है। जैसे भीतर से कोई उसे मरोड़ रहा हो। जबड़े हिल आए, मानों कोई भूचाल उन्हें हिला गया। सारा चेहरा तुड़-मरुड़ कर जानें कैसा हो चला। और फिर, देखते-देखते उन आँखों से तार-तार आँसू झर उठे। उस समय चेहरा फिर शान्त हो गया था और आँसू झर-झर झर रहे थे।"

अपनी मृत्यु से एक-सवा महीने पहले रुग्ण-शैय्या पर पड़े-पड़े प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी से कहा था—"जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं, ईश्वर! मुझे भी याद दिलायी जाती है। पर, अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की ज़रूरत नहीं मालूम हुई है।"

कुछ रोज के बाद ! मृत्यु के पहली रात्रि को जैनेन्द्रजी उनकी खाट के पास बराबर बैठे थे। जैनेन्द्रजी के कथनानुसार 'सवेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आँख मीच लेनी थी।' उसी सवेरे तीन बजे तक जैनेन्द्र से बातें होती रहीं। वे बहुत धीरे-धीरे बोल पा रहे थे। प्रेमचंदजी ने अपना दाहिना हाथ जैनेन्द्रजी के सामने कर दिया और बोले, "दाब दो।"

इस हालत में भी प्रेमचंदजी को 'हंस' और साहित्य-निर्माण की चिंता थी। उनकी आँखों से इस प्रकार के भाव स्पष्ट तौर पर प्रकट हो रहे थे। रात के बारह बजे उन्होंने एकाएक जैनेन्द्रजी को सम्बोधित किया, 'जैनेन्द्र !' और वे फिर चुप होकर सामने देखते रहे। जैनेन्द्रजी का हृदय भर आया। बोले, "आप कुछ फिकर न कीजिए, बाबूजी ! आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।"

प्रेमचन्दजी मौन होकर जैनेन्द्रजी को देखते रहे, फिर बोले, "आदर्श से काम नहीं चलेगा।"

जैनेन्द्रजी ने कहना चाहा, "आदर्श···।"

लेकिन, इसके आगे जैनेन्द्रजी से कुछ कहा न गया। थोड़ी देर बाद अत्यन्त धीमी आवाज में प्रेमचन्दजी बोले, "गर्मी बहुत है, पंखा करो।"

दस-पंद्रह मिनटों के बाद वे फिर बोले, "जैनेन्द्र, जाओ, सोओ।"

बाद इसके जैनेन्द्रजी को प्रेमचन्दजी से दुबारा बातें नहीं हुईं। सुबह के सात बजते-बजते साहित्य-सम्राट् ने मृत्युतीर्थ की महायात्रा कर दी।

मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ

श्री अवध उपाध्याय प्रेमचन्द्जी के कठोर टीकाकार समझे जाते हैं। जिन दिनों प्रेमचन्दजी की मृत्यु हुई, इन दिनों वे पेरिस मे गणित का अध्ययन कर रहे थे। प्रेमचन्द्जी की मृत्यु की खबर उन्हें पेरिस में ही मिली। इसके पहले अवध उपाध्याय ने प्रेमचन्द्जी पर कई कठोर टीकाएँ की थीं। प्रेमचंदजी की मृत्यु से दुखित होकर उन्होंने एक पत्र अपने अभिन्न मित्र अन्नपूर्णानंदजी को लिखा था। वह पत्र ज्यों-का-त्यों नीचे दिया जा रहा है:—

216 Ruc st. Jacques,
Paris v
26-2-37

प्रिय मित्र अन्नपूर्णा !

तुम्हारे पत्र से प्रेमचन्दजी को मृत्यु का पता चला। इस दुःखद समाचार ने मेरे हृदय को मथ डाला, मैं रो उठा; क्योंकि मेरे हृदय में एक कसक रह गई। मैंने प्रेमचन्द के सब ग्रंथों का अध्ययन किया था और मैं भलीभाँति उनके गुणों से परिचित था। वास्तव में हिन्दी-भाषा का एक स्तम्भ टूट गया, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक

उठ गया, आज हमारे उपन्यास-सम्राट् का देहावसान हो गया। परंतु, उनकी अमर कीर्ति की ध्वजा सर्वथा फहराती रहेगी। मैं आज निःसंकोच भाव से कह रहा हूँ कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचन्द की तरह प्रसिद्ध नहीं हो सका। भाषा प्रेमचन्द की दासी बन गई थी। वे उसे जैसे चाहते थे, नचाते थे। मानव-हृदय का ज्ञान भी उन्हें बहुत था। मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृतियों में अमर साहित्य की सामग्री है। मेरी राय में प्रेमचंदजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवासदन' और सर्वश्रेष्ठ गल्प-संग्रह 'नवनिधि' हिन्दी भाषा में सदा अमर रहेंगे। मुझे हार्दिक दुःख है कि मैं प्रेमचंदजी के गुणों का वर्णन उनके जीवन-काल में ही नहीं कर सका। इस समय भी मैं गणित के अध्ययन में व्यस्त रहने के कारण, उनके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि उनके गुणों का वर्णन करने के लिए पुस्तक लिखने की आवश्यकता है। इस छोटे-से पत्र में क्या-क्या लिखूँ? परन्तु भाई! मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, मैं उस समय भी उनके गुणों के बारे में भी लिखना चाहता था। तुम जानते हो जो कुछ मैंने प्रेमचंदजी के बारे में लिखा था, वह सब कुछ शुद्ध भाव से, द्वेषवश नहीं। यह संभव है कि मैंने ग़लती की हो, यह भी संभव है कि मेरी राय से बहुत लोग सहमत न हों, परन्तु मैंने अपनी धारणा साफ़-साफ़ और शुद्ध हृदय से लिखी थी। बात यह है कि प्रेमचंद के सब ग्रंथों के अध्ययन के बाद मेरी समझ में यह बात आई कि 'सेवासदन' ही उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। मैं चाहता था कि प्रेमचंदजी उसी 'सेवा सदन' का मार्ग अवलम्बन करें, 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' का नहीं। मैंने उनसे भी इस सम्बन्ध में बातें कीं, परन्तु उन्हें विश्वास नहीं दिला सका। तदनन्तर मैंने खुले तौर से उनके विरुद्ध लिखकर उनका ध्यान

आकर्षित करना चाहा। मैं चाहता था कि प्रेमचन्दके विरुद्ध लिखूँ और वे उसका खुलकर उत्तर दें। मैं चाहता था कि हिन्दी-भाषा में स्वतन्त्र समालोचना की धारा बहे। परन्तु प्रेमचन्दजी के गुणों का भी वर्णन करना चाहता था। गुण और दोष मैं दोनों दिखलाना चाहता था। तुम जानते हो, हिन्दी में वह मेरा पहला लेख था। मैं तो वास्तव में पहले गुणों का ही वर्णन करना चाहता था और बाद में दोषों का। परन्तु, मेरे एक मित्र ने पहले दोषों का वर्णन करने के लिए उपदेश दिया और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। इसी बीच में प्रेमचन्दजी बुरा मान गए और हिन्दी के कुछ लोगों ने वास्तव में यह सोचना प्रारम्भ कर दिया कि मैं द्वेषवश लिख रहा हूँ। इसी बीच प्रेमचन्दजी और सहगलजी मेरे पास आए और समालोचना बन्द कर देने का विचार प्रकट किया। बस, मैंने समालोचना बन्द कर दी और मेरे सब विचार हिन्दी-भाषा के सामने न आ सके। परन्तु, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि प्रेमचंदजी हिन्दी के एक बड़े लेखक थे और मैं उनके गुणों को भी भली-भाँति जानता हूँ। फिर कभी विस्तारपूर्वक इन सब गुणों का वर्णन करूँगा।

तुम मेरे लंगोटिए यार हो। इसलिए तुम्हारे पास लिख रहा हूँ और आशा करता हूँ कि मेरी यह बात अवश्य मानोगे। वास्तव में मैं नहीं जानता कि हिन्दी-संसार प्रेमचन्दजी के स्मारक के लिए क्या कर रहा है। परन्तु, मेरा विश्वास है कि वह स्मारक के लिए अवश्य प्रयत्न करेगा। अन्नपूर्णा! स्मारक ठीक है, तुम भी इसमें सहयोग देना। परन्तु, मैं तुमसे दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि तुम एक अलग समिति स्थापित करो जो उनके कुटुम्ब को सहायता दे। यदि तुम्हारे प्रयास से उनके कुटुम्ब की देख-रेख हो सकी, तो मैं आजन्म तुम्हारा आभारी रहूँगा। प्रायः यह देखा जाता है कि घर के प्रधान की मृत्यु के

बाद उसके कुटुम्ब की सहायता करनेवाले तो कम रह जाते हैं, परन्तु उनके लूटने वाले अधिक हो जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि इस आपत्ति से उनके कुटुम्ब की रक्षा करना, अवश्य रक्षा करना। एक प्रार्थना तुमसे और है। मेरी ओर से उस देवी—प्रेमचन्दजी की धर्मपत्नी—के यहाँ जाना और कहना कि मैं सदा उनके साथ हूँ। यदि वे कोई आज्ञा दें, तो मैं सदा उनकी आज्ञा का पालन करूँगा और यदि मुझसे बन पड़ा, तो उनकी सहायता करूँगा।

तुम नहीं जानते कि उस देवी से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, उनके बनाये हुए भोजन मैंने कई बार खाये हैं। कई बार मैंने उन्हें तथा प्रेम-चन्दजी को अपने घर निमंत्रित किया और उन्होंने मुझे। मेरा उनका सम्बन्ध बड़ा घनिष्ट रहा। इसीलिए तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम उनके यहाँ मेरी ओर से अवश्य जाना और उन्हें विश्वास दिलाना कि मैं उनके साथ हूँ।

अभिन्न हृदय मित्र—

अवध उपाध्याय
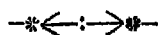
फोटो और एक रुपए का रिसाला

हिन्दी के प्रख्यात कहानी-लेखक और उपन्यासकार श्रीऋषभचरण-जी जैन के कथनानुसार अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व प्रेमचन्दजी दिल्ली गए थे और सलाह हुई कि चलकर कुतुबमीनार देखी जाय। तीनों कुतुबमीनार देखने गए। साथ में थोड़ी-सी पूड़ियाँ थीं। तीनों जने जब खाने बैठें, तो प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि पानी कौन लावे। ऋषभ-चरणजी बोले, "जो पानी लेने के लिए जाएगा, वह घाटे में रहेगा; क्योंकि पूड़ियाँ कम हैं।"

जैनेन्द्रजी की राय थी कि यह काम ऋषभचरणजीही करें। लेकिन इसपर प्रेमचंदजी बोले, "मैं बूढ़ा आदमी हूँ, मैं जाता हूँ, मुझपर आपलोग जरूर ही रहम करेंगे।"

ऋषभचरणजी ने उन्हें पानी न लाने दिया, लेकिन प्रेमचन्दजी की बातों ने उन्हें खूब हँसाया। ऋभचरणजी ने प्रस्ताव रखा कि कुतुब की लाट पर चढ़ा जाय। प्रेमचन्दजी बोले, "नीचे खड़े हुए इस लाट का बड़प्पन हमारे दिलों पर है, ऊपर चढ़ने पर वह कम हो जायगा। सलिए इऊपर चढ़ना मुनासिब नहीं।"

ऋषभचरणजी के कथनानुसार इस मौके पर इन लोगों ने अपना फोटो भी खिचवाया। फोटो की कापी जब प्रेमचंदजी के यहाँ भेजी गई,

तो उन्होंने पत्र लिखा—'फोटो मिला; मेरा मुँह टेढ़ा आया है। क्या करें, नसीब ही टेढ़ा है।'

प्रेमचंदजी के सम्बन्ध में अपना महत्त्वपूर्ण संस्मरण लिखते हुए ऋषभचरणजी ने निम्न बातें बतलायी हैं:—

"....दिल्ली की हिंदी-प्रचारिणी-सभा ने उन्हें मानपत्र देने का निश्चय किया। प्रेमचंद शायद उसी रातको चले जानेवाले थे। लेकिन, अकस्मात् एक पंजाबी सज्जन ने खड़े होकर कहा—'साहबो, मैं प्रेमचंदजी को आज न जाने दूँगा। बरसों पहले की बात है; मेरे बुरे दिन आ गए। मैं लाहौर का निवासी हूँ, लेकिन बुरे वक्त में अपना शहर छोड़कर रोजगार की तलाश में कलकत्ता पहुँचा। उस समय मेरी जेब में सिर्फ एक रुपया था। इत्तफाक से स्टाल पर एक उर्दू का रिसाला बिक रहा था, जिसमें मुंशी प्रेमचन्दजी की एक 'मंत्र' नाम की कहानी छपी थी। साहबो, मैंने जेब के उस आखिरी एक रुपए का मोह छोड़कर रिसाला खरीद लिया और इस कहानी ने मेरे जीवन में ऐसा मंत्र फूँका कि आज मेरा जीवन एकदम बदल गया है।...."

अपरिचित का परिचय

काशी का 'आज' कार्यालय !

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के साथ एक व्यक्ति पहुँचा और उसने तत्कालीन 'आज' के सम्पादक पराड़करजी को खबर भिजवायी कि उनसे दो सज्जन मिलना चाहते हैं। पराड़करजी बाहर निकले और दोनों व्यक्तियों को भीतर ले गए। साथ आए व्यक्ति ने परिचय कराया, आपही हैं, पराड़करजी और आप चन्द्रगुप्त विद्यालंकर !"

और तब प्रथम परिचय की रस्मों के बाद पराड़करजी ने चंद्रगुप्त विद्यालंकार के साथ आए हुए व्यक्ति से कहा, "पिछले पन्द्रह बरसों मे मेरी आपसे मिलने की ज़बरदस्त इच्छा थी। आज आपने बड़ी कृपा की।"

और, ये साथ आए हुए व्यक्ति थे—उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द !

चंद्रगुप्त विद्यालंकार के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। आप बोले, क्या आप दोनों आज पहली बार ही एक दूसरे से मिल रहे हैं ?"

प्रेमचन्दजी खिलखिलाकर हँस पड़े। पराड़करजी बोले, काम-काज के जंजाल में इतना फँसा रहता हूँ कि कभी कहीं आने-जाने की फ़ुर्सत ही नहीं मिलती !" इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के बाद व्यक्तिगत रूप से अपरिचित का परिचय हुआ।

इस घटना के पूर्व चन्द्रगुप्तजी स्व० पद्मसिंहजी के साथ एक बार बनारस के सम्बन्ध में अब तक उनका ज्ञान, शून्य के बराबर ही था। सन् १९३८ के नवम्बर महीने में जब चन्द्रगुप्तजी बनारस आए थे, तो प्रेमचन्दजी के यहाँ ही ठहरे थे। इसके पहले प्रेमचन्दजी से उनकी कोई खास घनिष्ठता नहीं थी। इसके पहले प्रेमचन्दजी दो-चार रोज गुरुकुल में रह आए थे और उनकी प्रथम दिल्ली यात्रा के अवसर पर चन्द्रगुप्तजी को प्रेमचन्दजी के साथ थोड़ा मिलने-जुलने का मौका मिला था।

सन् १९३२ ई० में जब चन्द्रगुप्तजी को बनारस आने के लिए हुआ तो उन्होंने प्रेमचन्दजी को इस आशय का पत्र डाल दिया कि वे अमुक तिथि को बनारस आ रहे हैं। और बनारस के सम्बन्ध में उनका ज्ञान कुछ भी नहीं है। प्रेमचन्दजी ने लौटती डाक से अपने बेनियाबाग वाले मकान का पूरा पता देते हुए लिखा :—

"तुम मेरे यहाँ ठहरोगे, तो इससे मुझे बड़ी खुशी होगी।"

अपने पत्र में प्रेमचन्दजी ने चन्द्रगुप्तजी को यह भी लिखा था कि उन्हीं दिनों उन्हें लखनऊ जाना है, मगर अब चूँकि चंद्रगुप्त विद्यालंकार आ रहे हैं, इसलिए वे अपना प्रोग्राम कैन्सिल कर देंगे। ऐन समय पर चन्द्रगुप्तजी को बनारस में प्रेमचन्दजी के दर्शन हुए, बेनियाबाग वाले मकान में।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार अपने एक मित्र के लिए एक बढ़िया-सा सूटकेस खरीदकर लाये थे। उस सूटकेस पर जब प्रेमचन्दजी की निगाह पड़ी, तो स्वाभाविक तौर पर खिलखिलाकर हँस पड़े। फिर बोले, "यदि काशी में इतना बढ़िया सूटकेस लेकर सफर पर निकलूँ, तो चोरी के डर से रात जागते ही बीते।"

श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार लिखते हैं:—

"....इस यात्रा के छः महीने बाद ही कलकत्ते जाते हुए कुछ घंटों के लिए मैं बनारस उतरा और अबकी बार किसी तरह की सूचना दिये बिना प्रेमचन्दजी के यहाँ जा पहुँचा। उस दिन बनारस में बेहद गर्मी थी। थोड़ी ही देर में हमलोग दशाश्वमेध घाट की ओर सैर के लिए चल दिये।

"इसके कुछ ही दिन पूर्व किसी सज्जन ने प्रेमचन्दजी की रचनाओं के खिलाफ कुछ लेख काफी महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रकाशित करवाये थे। उन लेखों का ज़िक्र चला, तो मैंने कहा कि मैं उन आक्षेपों के उत्तर के रूप में कुछ लिखना चाहता हूँ। प्रेमचन्दजी खिलखिलाकर हँस पड़े और कहा, "जब कोई कमजोर आदमी ज़बरदस्ती किसी पहलवान से भिड़ पड़े, तो उसके लिए सबसे बड़ी सज़ा यही है कि दूसरे लोग बीच में पड़कर उन्हें जुदा कर दें।"

सङ्कीर्णता का स्पर्श नहीं

"....मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतक़ाद नहीं है, पूजा-पाठ और मंदिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबीयत का यही रंग है। बाज़ लोगों की तबीयत तो मज़हबी होती है, बाज़ लोगों की ला-मज़हबी। मैं मज़हबी तबीयत रखनेवालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबीयत रस्मी मज़हब की पाबंदी को बिलकुल गवारा नहीं करती।....मेरी संस्कृति और तर्ज़-माशरत भी मिला-जुला है, बल्कि मुझपर मुसलमानों की तहज़ीब का हिन्दुओं की तहज़ीब से ज़्यादा असर पड़ा है। मैंने मक़तब में मियाँजी से फारसी, उर्दू पढ़ी। हिन्दी से बहुत पहले मैंने उर्दू में लिखना शुरू किया, हिन्दी ज़बान मैंने बाद में सीखी।....।"

ये विचार हैं उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द के, जो उन्होंने जामिया मिलिया, दिल्ली के मौलवी मुहम्मद आक़िल, एम० ए० के समक्ष प्रकट किये थे। देहली के एक उर्दू पत्र 'साक़ी' ने प्रेमचंदजी के बारे में लिखा था कि प्रेमचन्दजी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं। जब उस

संपादकीय नोट की चर्चा चली, तो प्रेमचन्द ने हँसते हुए कहा, "मैं उर्दू के लिए न सिर्फ जिन्दा हूँ, बल्कि ज्यादा ज़ोरों से जी रहा हूँ। मेरे दो एक नावेलों को छोड़कर, जिनका मैं जल्द उर्दू एडीशन शाया करनेवाला हूँ और मेरे तमाम नावेल और बेशतर कहानियाँ उर्दू और हिन्दी दोनों ज़बानों में शाया हो चुकी हैं। कभी मैं उर्दू में पहले लिखता हूँ और उसका हिन्दी में अनुवाद करता हूँ और कभी हिन्दी मे लिखता हूँ और बाद मे उसका उर्दू तर्जुमा करके शाया करता हूँ।"

मौलवी साहब से प्रेमचन्दजी ने धर्म के विषय में अपना विचार प्रकट किया था। खासकर हिंदू-मुसलमान को लेकर जो धार्मिक दीवारें बन गई हैं, इसे वे बिलकुल नापसंद करते थे। प्रेमचन्दजी का कहना था कि हिंदू-मुसलमानों के यह सब इख्तिलाफ़ात बनावटी और झूठे हैं, दरअसल दोनो एक हैं।

यह अवस्था आते-आते प्रेमचन्दजी अधिक आज़ाद-पसंद व्यक्ति हो गए थे। उन्होंने मौलवी साहब से कहा, "मैंने सज्ज़ाद ज़हीर और उनके साथियों से कहा कि भाई, हम बूढ़े हो गए, लेकिन दिल उन सब बातों को करना चाहता है, जो तुमलोग कहते हो, इसलिए हम भी अपनी जान तुम्हारे तूफ़ानी समुन्दर में डालते हैं। अब यह जिधर भी जाय, हमें इसकी फ़िक्र नहीं।

मौ० मुहम्मद आक़िल श्री प्रेमचन्दजी से पहली बार, सन् १६३५ई० के दिसंबर में मिले थे—बनारस में। परंतु, इसके पहले वे प्रेमचन्द

की रचनाओं और ख्याति के कारण बहुत परिचित थे। बात यह थी कि जामिया मिलिया से 'जामिया' नामक पत्र निकलता था। इसके लिए मौलवी साहब पत्राचार द्वारा प्रेमचंदजी से रचनाएँ मँगवाते। फिर मौलवी साहब का नाम 'हंस' के सहकारी मंडल के सदस्यों में छपने लगा था। इसलिए मौलवी साहब ने सोचा कि प्रेमचन्दजी से वाक़फ़ियत हो जाय तो बेहतर है।

जब मौलवी साहब बनारस जाने को हुए, तो उन्होंने प्रेमचंदजी को पत्र लिखा। उत्तर में प्रेमचंदजी ने उन्हें लिखा कि वे बनारस अवश्य आवें और उन्हीं के यहाँ ठहरें। लेकिन मौलवी साहब के एक अज़ीज दोस्त मौलवी अबदुल मजीद काशी के मदनपुरा मुहल्ले में रहते थे। आपस में ऐसा दोस्ताना भाव था कि मौलवी मुहम्मद आक़िल को जनाब अबदुल मजीद साहब के यहाँ ही ठहरना पड़ा। लेकिन काशी में अपने दोस्त के यहाँ सामान वगैरह रखने पर जिसका पता उन्होंने सबसे पहले पूछा, वह व्यक्ति था प्रेमचंद। इस पहली मुलाक़ात की घटना की चर्चा करते हुए जनाब आक़िल साहब लिखते हैं:—

"....प्रेमचंदजी का मकान क्वींस कालेज के पीछे एक मुहल्ले में था। प्रेमचंदजी जिस मकान में रहते थे, वह दोमंजिला और ख़ासे पुख्ता किस्म का था। इसके गिर्द एक अहाता भी था, लेकिन बनारस के इस हिस्से की आबादी कुछ ज्यादा गुंजान न थी और आसपास की

फिज़ा के और माहौल में भी कुछ क़स्तयाती कैफ़ियत पायी जाती थी। प्रेमचंदजी के अहाते में सब्जी, फूल, फुलवारी कुछ न थी, मकान में कुछ ठाट या शान नजर नहीं आती थी। प्रेमचंदजी मकान के बालाई हिस्से में रहते थे। नीचे के हिस्से में प्रेस का काम होता था, जिसके सबूत के लिए टाइप के हुरूफ़ इधर-उधर देखे जा सकते थे। नीचे हिस्से में शायद किसी तरफ़ एक गाय रहती थी। मैंने दरवाजे पर दस्तक दी। दो दफे कुंडी बजाने पर एक आदमी निकला, जो मुझे ज़ीने के रास्ते से ऊपर प्रेमचन्दजी के कमरे में ले गया। उनकी मुलाक़ात का खास कमरा या दफ्तर, जिसमें कुर्सियाँ और मेज लगी हुई थीं, इस वक़्त बन्द था। उस कमरे का पता मुझे दूसरे रोज लगा था, जब मैं मिस फिल्सबोर्न और डाक्टर अलीम के साथ दोबारा उनसे मिलने गया था। इस रोज जिस कमरे में मेरी मुलाक़ात हुई वह खासा बड़ा, खुला हुआ, साफ और हवादार कमरा था। ज़मीन पर सफेद चाँदनी का एक फ़र्श बिछा हुआ था। एक कोने में एक नेवाड़ी पलंग था, जिसके क़रीब एक पीक़दान रखा हुआ था। प्रेमचन्दजी फर्श पर बैठे हुए थे और एक कापी पर हिन्दी में अपने किसी नाविल के मसविदे को, जिसको वह जल्द छपवाना चाहते थे, लिख रहे थे। प्रेमचन्दजी के तआरुफ़ की कोई जरूरत ही न थी। उनकी तसवीरें मैं बाहर देख चुका था। मेरा तआरुफ़ अलबत्ता ज़रूरी था, सो मैंने खुद ही कर दिया और उनसे ग़ुफ्तगू का सिलसिला शुरू हुआ···"

प्रेमचन्द से जनाब आक़िल साहब की दूसरी मुलाकात सन् '३६ में

देहली में हुई। चूँकि प्रेमचंदजी हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए एक बड़ा काम करना चाहते थे, इसलिए वे जामिया मिलिया में पधारे। प्रेमचंद ने सलाह दी कि आपस में दोस्ताना तरीके का एक जलसा हो और उसमें आपसी तौर पर कुछ साहित्य और भाव-सम्बन्धी विचार-विमर्श हो। देहली के उर्दू लेखक और विद्वानों को एकत्र करने का भार जामिया मिलिया को दिया गया और हिन्दी के लेखक तथा विद्वानों को एकत्र करने का भार उन्होंने अपने और जैनेन्द्रकुमार के ऊपर ले लिया। फलतः, चाय पर उर्दू और हिन्दी के पत्रकार और लेखकों की एक खास जमघट लग गई। यहाँ जिस प्रकार का वातावरण पैदा हुआ और प्रेमचंदजी ने जो अपनी सलाहें लोगों के सामने रखीं, इसकी जानकारी स्वयं जनाब आकिल साहब के लफ़्ज़ों द्वारा ही की जा सकती है। वे लिखते हैं :—

"शुरू में गैर रस्मी बातचीत में प्रेमचंदजी ने उर्दू और हिन्दी अदीबों के मिलने और तबादला ख़याल करने की अहमियत पर ज़ोर दिया। चाय के ख़त्म होने पर बाक़ायदा जलसा शुरू हुआ, जिसमें प्रेमचंदजी ने एक निहायत पुरअसर तक़रीर में इस बात को ख़ूबी के साथ समझाया कि जब तक उर्दू और हिन्दी के अख़बारनवीस आपस में दोस्ताना ताल्लुक़ात पैदा करके एक दूसरे के ख़यालात और नुक़तये निगाह को हमदर्दी के साथ समझने की कोशिश न करेंगे, उस वक़्त तक इत्तफ़ाक़ और इत्तहाद की कोशिशें कभी कामयाब नहीं होंगी।

और लोगों की तकरीरें हुईं और नतीजा यह निकला कि 'हिन्दुस्तानी सभा' नाम की एक संस्था स्थापित कर दी गई। उसके जो मेम्बर थे वे और आगे बढ़े और उन्होंने एक मुश्तरका हिन्दी ज़बान पैदा करने का भी इरादा कर लिया। उन्होंने कहा कि ऐसी ज़बान लिखनी चाहिए जिसमें न अरबी-फ़ारसी के अल्फ़ाज़ ज़्यादा आएँ, न संस्कृत भाषा के, बल्कि सीधी-सादी ठेठ हिन्दी में। प्रेमचन्दजी को खुद इस बात पर ज्यादा विश्वास न था। हिन्दी और उर्दू दोनों ज़बानों के एक निहायत अच्छे लेखक होने की वजह से वह इस बात को खूब जानते थे कि रोज़मर्रा की बातचीत और मामूली बातों को इस तरह की ज़बान में बयान किया जा सकता है, लेकिन जब कभी ऊँचा उठकर गहरी बात कहनी ही होगी, तो उसके लिए संस्कृत, अरबी या फारसी की मदद लेना ज़रूरी होगा। प्रेमचन्दजी जब कहानियाँ लिखते थे, तो उसकी ज़बान तो बहुत सादा और आमफ़हम होती थी और हिन्दी और उर्दू दोनों ज़बानों को जानने वाले उससे मज़ा ले सकते थे। लेकिन जब कोई इल्मी, तक़रीर या गहरी बात इन्हें लिखनी होती थी, तो उर्दू में खूब फारसी-अरबी के अल्फाज़ और हिन्दी में संस्कृत के शब्द इस्तेमाल करते थे। इससे उनके उर्दू जानने वाले दोस्त जब उनकी हिन्दी को पढ़ते थे, तो उन्हें बहुत गुस्सा आता था कि प्रेमचन्दजी ने यह क्या ज़बान लिख दी और जब उनके हिन्दी जानने वाले मित्र उनकी उर्दू को पढ़ते थे, तो उन्हें बहुत क्रोध होता था कि प्रेमचन्दजी कैसी कठिन फारसी-अरबी लिखते हैं। चुनांचे तरक्कीपसन्द मुसन्निफों

की सभा में जो उन्होंने भाषण दिया था, उस पर हिन्दी वालों ने बड़ी ले-दे की थी। इसलिए इन सब बातों को अच्छी तरह जानते हुए प्रेमचन्द तो आसानी से एक मुश्तरका हिन्दुस्तानी जबान के पैदा होने की आशा नहीं कर सकते थे। उनका मक़सद शुरू में 'हिन्दुस्तानी सभा' कायम करने से सिर्फ यह था कि हिन्दी और उर्दू लिखने वाले एक जगह मिलकर बैठें, एक-दूसरे के ख़यालात मालूम करें, एक-दूसरे को समझें; और दोस्ती और मुहब्बत की वजह से एक दूसरे के साथ मुरौवत और इज्जत से पेश आयें और जब अपने अखबार, रिसाला या किताब में कोई बात लिखें तो इस बात को भी दिल में रखें कि उसका पढ़ने वाला हमारा उर्दू जानने वाला मुसलमान मित्र या हिन्दी जानने वाला हमारा हिन्दू दोस्त भी है, जो बात हम लिख रहे हैं, कहीं उसे नागवार न हो। लेकिन जब हिन्दुस्तानी सभा के दूसरे मेम्बरों ने कहा कि हम एक मुश्तरक हिन्दुस्तानी ज़बान भी चलाना चाहते हैं, तो उन्होंने उसकी मुख़ालफत नहीं की। यह प्रेमचन्दजी से मेरी दूसरी मुलाक़ात थी।"

'मैं प्रेमचंद नहीं हूँ'

"क्यों जनाब, आप लखनऊ से आ रहे हैं?"

"नहीं तो?"

बाँकीपुर जंक्शन के प्लेटफार्म पर रेलवे-मेल-सर्विस के कार्यालय के पास अचानक प्रेमचंदजी की शक्ल और पोशाक का ही एक मुसाफिर उन्हें दिखलाई पड़ा। उनके बेतुके प्रश्न पर वह मुसाफिर झुँझला पड़ा और प्लेटफार्म पारकर रेलवे-लाइन की बगल-बगल सीधा जाने लगा। प्रेमचंद को स्टेशन से ले जाने वाले व्यक्ति झेंपकर मुसाफिरों की भीड़ में जा मिले। और, जब गाड़ी चली गई, तो प्रेमचंद को खोजने वालों ने यह सोचा कि उस मुसाफिर से यह तो पूछा ही नहीं गया कि आप प्रेमचंद हैं। संभव है, वे लखनऊ से न आकर बनारस से आ रहे हों। खोजने वालों का दस्ता पुनः उस मुसाफिर की ओर लपका और यह नया प्रश्न पूछा गया, "क्यों जनाब, आप बनारस से आ रहे हैं?"

मुसाफिर हँस पड़ा। उसने पूछा, "आखिर बात क्या है?"

"प्रेमचन्दजी इसी गाड़ी से आने वाले थे और उनका चेहरा आपसे मिलता-जुलता है। क्षमा कीजिएगा।"

मुसाफिर ने कहा, "मैं प्रेमचन्द नहीं हूँ।" और वह चल पड़ा, पूर्ववत्।

यह घटना है, २१ नवम्बर, १६३१ की।

उन दिनों केशरी किशोर शरण, एम० ए० पटना हिन्दी-साहित्य-परिषद् के मंत्री थे और उन्हीं की ओर से निमंत्रण गया था। प्रेमचंदजी आज पटने पधारने वाले थे। अपनी इस निराशा और परेशानी की चर्चा करते हुए केशरी किशोर शरणजी ने निम्न बातें लिखी हैं:—

"शाम का वक्त, साढ़े छः बजे पश्चिम से आने वाली एक्सप्रेस पटना जंक्शन पर अभी लगी हुई थी, प्रेमचन्दजी आज पटना आने वाले थे और उन्हीं के स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पर पहुँचे हुए थे; परंतु हममें से किसी ने उन्हें देखा न था, इसलिए बड़ी चिन्ता थी, उन्हें कैसे पहचाना जायगा। 'हिंदी-भाषा और साहित्य' का प्रथम संस्करण हाल ही में निकला था। उसमें प्रेमचन्दजी की एक तस्वीर थी। चौड़ा, गोल मुँह; उभरा हुआ ललाट; बड़ी-बड़ी धनुपाकार घनी मूँछें। पोशाक भी सोफियाना थी। फ्लेनेल का पैंट, मफलर और कोट। इसी तस्वीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आये थे। प्रेमचंदजी जैसे महान् कलाकार की रूपरेखा हमारे मन में इससे कहीं अधिक भड़कदार और रोबीली थी।

"रेलगाड़ी आई और सेकेंड क्लास, इंटर, फर्स्ट क्लास के सभी डब्बे हम लोगों ने देख लिए, पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नज़र नहीं आया। तब थर्ड क्लास की बारी आई। गाड़ी का डब्बा-डब्बा हम लोगों ने छान डाला; पर मुसाफिरों में कोई हिंदी का औपन्यासिक सम्राट् न निकला।"

श्री शरण के कथनानुसार दो घंटे के बाद पंजाब मेल आई। इसके डब्बे-डब्बे में भी उनलोगों ने प्रेमचंदजी को खोजा, मगर उनका तो कहीं पता ही नहीं। मित्र-मंडली हताश और निरुत्साह होकर घर लौट आई। परेशानी के क्या पूछने हैं। बड़े जोरों की विज्ञापन बाजी की गई थी। प्रेमचंदजी आ रहे हैं। यहाँ प्रेमचंदजी की छाया तक न मयस्सर! हिंदी-साहित्य-परिषद की बैठक शायद रविवार को शाम को थी और छः बजे के करीब एक्सप्रेस आती थी। श्री कृष्णगोपाल अवस्थी के साथ केशरी किशोर शरण स्टेशन पहुँचे। इसी ट्रेन की अंतिम आशा थी—इसी गाड़ी का आखिरी भरोसा था। पहले की तरह एक्सप्रेस आई और चली भी गई। प्रेमचन्द का पता नहीं। केशरी-किशोर अपने-आप शर्म से गड़े जा रहे थे। लोगों को क्या मुँह दिखलाऊँगा! प्रेमचन्द तो आए नहीं, और उनके आने के पहले शहर में बेशुमार धुन! मुसीबत है।

परंतु, जो व्यक्ति हीरे की खोज में निकलते हैं, वे पत्थर के ढेले खोजते-खोजते थक नहीं जाते। जानें, किस पत्थर में हीरे का अस्तित्व छिपा हो। आखिर अवस्थीजी के साथ वे मुसाफिरखाने की ओर बढ़े।

थोड़ी देर इधर-उधर नजरें दौड़ाते रहे। फिर देखा, सीढ़ी के पास एक अर्धवयस्क सज्जन, जिनके बाल कुछ सुफेद हो चले थे और सफ़र की थकावट से कुछ खिन्न-से हो रहे थे, गुमसुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तरा हाथ में लिये पूछ रहा है—बाबू, कहाँ चलें ?"

केशरी किशोर शरण को याद आया। यह तो वही मुसाफिर है, जिससे हमने कल कई बार प्रश्न किए थे और इसने कहा था—मैं प्रेमचंद नहीं हूँ।

झट समीप जाकर विनय-भरे स्वर में प्रश्न किया, "क्यों जनाब, आप लखनऊ से आ रहे हैं ?" उत्तर मिला, "हाँ भाई, लखनऊ से ही आ रहा हूँ।"

"आप प्रेमचंदजी हैं ?"

"हाँ, प्रेमचंद हूँ।"

अब उनकी खोज करने वालों के हर्ष का क्या पूछना! केशरी किशोर शरण ने उन्हें प्रणाम किया। और उनके हाथ से खादी के मैले रूमाल से बँधे पीतल के लोटे को लेते हुए अत्यन्त संकोच और ग्लानि के साथ कहा, "जी, मैं केशरी-किशोर हूँ।"

अपनी इस प्रथम भेंट के संबंध में श्री केशरी किशोर शरण लिखते हैं:—

"उनके चेहरे पर किंचित क्रोध, किंचित संतोष और प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पड़ी। पर, कोई शब्द उनके मुँह से न निकला।

तब तक फिटन आ लगी। हम तीनों उस पर चढ़ बैठे। कुली को पैसे देकर मेरे मित्र ने विदा कर दिया और फिटन चल पड़ी। मेरा मन गर्व में, खुशी से, संकोच और ग्लानि से ऐसा भर गया था कि मैं यह भी न पूछ सका—"रास्ते में कोई तकलीफ तो न हुई ?" तब तक वह भी कुछ स्थिर और संतुष्ट से दीख पड़े।...."

जब थोड़ी हिम्मत हुई, तो केशरी किशोर शरण ने पूछा, "रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई ?"

प्रेमचन्दजी बोले, "तकलीफ ? मैं तो रात भर इसी पशोपेश में पड़ा रहा कि रहूँ या लौट जाऊँ। रात पंजाबमेल से उतरा। आपलोगों के दर्शन नहीं हुए, तो मुसाफिरखाने में जाकर पड़ा रहा। तबीयत बहुत झुँझला रही थी। जब यहाँ कोई पूछने वाला नहीं, तो किसलिए ठहरूँ ? २।। बजे की गाड़ी से लौट चलने की इच्छा हुई। रिटर्न टिकट था ही। प्लेटफार्म पर गया, गाड़ी आ लगी। पर, चढ़ नहीं सका। सोचा, तुम्हें दुःख होगा।"

केशरी किशोर शरण ने कहा, "आप पंजाबमेल से उतरे, लेकिन मैं पहचान न सका।"

"यही तो मैं कहता हूँ।"—प्रेमचन्दजी बोले, "जब मुझे नहीं पहचानते थे और न मैं तुम्हें, तो प्रेमचन्द कहकर पुकारते। इससे मेरी इज्ज़त थोड़े कम हो जाती ?"

प्रेमचन्दजी तो केशरी किशोर शरण के आमंत्रित थे। लेकिन शहर में बड़े-बड़े लोग बहुत थे और उनलोगों का आग्रह था कि प्रेम-

चन्दजी उन्हीं के यहाँ ठहरें। केशरी किशोर शरण नहीं चाहते थे कि उपन्यास-सम्राट् कहीं और ठहरें, फिर भी उन्होंने पूछा, "आप डा० हरिचन्द शास्त्री के यहाँ ठहरेंगे या मेरी सेवा स्वीकार करेंगे?"

डा० हरिचन्द शास्त्री उन दिनों पटना कालेज साहित्य-परिषद् के सभापति थे। प्रेमचन्दजी ने सहज भाव से उत्तर दिया, "मुझे डाक्टर के साथ क्या करना है? मैं तुम्हारे बुलाने से आया हूँ और तुम्हारे यहाँ ही ठहरूँगा।"

इसके बाद की घटना पर प्रकाश डालते हुए श्री केशरी किशोर शरण लिखते हैं:—

"........घर पहुँचे। थोड़ी देर आराम करने के बाद वह मेरी पढ़ने की पुस्तकें देखने लगे। मैं तो जानता ही था। कुछ तो सचमुच मेरी पढ़नेवाली किताबें थीं और कुछ उनपर रोब-ग़ालिब करने के लिए, दूसरों से माँग कर सजा रखी थी।

"देश-विदेश के कुछ चुने हुए उपन्यास थे और आलोचना की पुस्तकें थीं। उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुए। बोले, "खूब पढ़ा करो। तुम्हारी आलोचनाओं को बड़े ध्यान से पढ़ता हूँ......"

"लेकिन आप तो आलोचनाओं को पसंद नहीं करते। आप तो कहते हैं—असफल लेखक आलोचक बन बैठा।" (यह वाक्य) उनके 'सेवासदन' का भाव था। उसी पर मेरा संकेत था।"

केशरी किशोर शरण के मुख से यह बात सुनकर प्रेमचंदजी हँस पड़े। फिर प्रेमचन्दजी ने कहा, "इसीलिए न कहता हूँ, खूब पढ़ा करो।

हिंदीवालों में यही मर्ज है कि वह अध्ययन बिलकुल नहीं करते।" और इसके बाद प्रेमचन्दजी आलमारी से फारेस्टर लिखित (Aspects of the Novel) पढ़ने लगे। इसके बाद केशरी किशोर शरण सभा का प्रबंध करने कालेज चले गए। वहाँ से जब वे डेढ़ घंटे के बाद लौटे, तो देखा प्रेमचन्दजी डेढ़ घंटे के भीतर ढाई सौ पृष्ठ की पुस्तक समाप्त कर 'डिसकशन' करने के लिए तैयार बैठे हैं।

इस संबंध में श्री शरणजी ने कहा है:—

"मैं बगलें झाँकने लगा। एक तो मेरा अध्ययन उतना गहरा नहीं, दस-बीस किताबें पढ़ ही लेने से मैं कोई विद्वान तो नहीं हो गया; फिर उपन्यास-कला पर बहस करूँ, उनसे जिनकी रचनाओं के आधार पर ही उपन्यास-कला की इमारत खड़ी होती है।"

श्री शरणजी ने प्रेमचन्द से पिंड छुड़ाना चाहा। बोले, "चलिए, ड्राइंग-रूम में बैठा जाय। यहाँ कुछ सर्दी-सी लग रही है।"

श्री शरण के कहने पर प्रेमचन्दजी ड्राईङ्ग-रूम में चले आए। लेकिन, रेशम की गद्देदार कुर्सियों को देखकर उन्होंने कहा, "यह सब सिर्फ हाय-हाय है।"

श्री शरण ने पूछा, क्यों?"

प्रेमचन्दजी बोले, "रहे तब भी हिफ़ाजत की चिन्ता, नष्ट हो जाय तब भी चिन्ता। मनुष्य को इस चिन्ता से बचना चाहिए। जिन्दगी में अपना दुःख ही कौन कम है कि नई बला मोल लें।"

इसी दरम्यान में श्री शरण के बड़े भाई चले आए। वे थे, पटना

विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और राजनीति के प्रोफेसर । विलायत के पढ़े हुए थे। उनसे प्रेमचन्दजी राजनीति पर बहस करने लगे। श्री शरण की जान बची। उपन्यास-कला पर जो बहस होने को थी,वह ठप्प पड़ गई।बातचीत से पता चला कि प्रेमचन्दजी कोरे उपन्यासकार ही न थे। इस विषय में उनकी जानकारी से प्राभावित होकर श्री शरण के बड़े भाई ने कहा—"Premchand seems to be an all-round scholar."

इसके बाद प्रेमचन्दजी पटना म्युजियम देखने गए। बिहार के गाँवों की मिट्टी के बने हुए, जब स्केच देखे, तो वे रम-से गए। कोल-भीलों की पारिवारिक मूर्तियों को भी बड़े गौर से देखने लगे और कहा, "हमें इन समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिए। इन जंगली लोगोंको सभ्य बनाना चाहिए। हजार वर्ष पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीजों से हमें क्या लाभ ? हमें तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए।"

म्यूजियम देखकर जब वे वापस होने लगे,तो उन्होंने केशरी किशोर शरण से कहा, "आज तुम्हारे कालेज के कुछ लड़के आए थे, संदेश के लिए। मैंने बतलाया—संतोष ही जीवन का सबसे बड़ा धन है।"

उनके इस वचन से श्री शरण के चेहरे पर अविश्वास की रेखाएँ उभर आईं। प्रेमचन्दजी बोले, "क्यों नहीं ? कभी तुमने इसपर गौर किया है ? बात छोटी-सी मालुम होती है लेकिन बड़े होकर जानोगे, यह कितना बड़ा सत्य है।"

श्री शरण प्रेमचन्दजी के विचारों को अस्वीकार कैसे कर सकते

थे। लेकिन मुँह से निकल गया, "संतोष से तो जीवन की क्रिया-शक्ति ही नष्ट हो जायगी। मेरी समझ में तो यह अभाव है, आकांक्षा और असंतोष की आग है, जिससे क्रान्ति होती है, आंदोलन होते हैं। संतोष से जीवन निश्चेष्ट हो जायगा। और निश्चेष्ट जीवन में और मृत्यु में क्या अंतर है?"

प्रेमचन्दजी गंभीर हो गए। कुछ मिनटों तक उन्होंने श्री शरण की बातों पर गौर किया। फिर बोले, "सामूहिक रूप से असंतोष अच्छा है; पर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में असंतोष का फल अच्छा नहीं होता। आंदोलन के नेताओं को ही देखो—वह निस्पृह रूप से काम करते हैं। वह जानते हैं, उनके छोटे जीवन में उनका आंदोलन सफल नहीं हो सकता, फिर भी उन्हें संतोष है, वह अपना काम तो कर रहे हैं। जननी-जन्मभूमि की रक्षा में अपनी जान तो दे रहे हैं। यही संतोष उनका सबसे बड़ा बल है।"

प्रेमचन्दजी का पटना आना पटने के लोगों के लिए एक अपूर्व घटना थी। जनता की अपार भीड़, कल्पनातीत उत्सुकता, श्रद्धा और भक्ति देखकर स्वयं प्रेमचन्दजी विह्वल हो उठे थे। उन्होंने कहा था, "विहारियों का हृदय सचमुच महान् है। उनकी-जैसी दरियादिली मुझे कहीं नहीं मिली। यू० पी० में भी मीटिंग होती है। बड़े-बड़े विद्वान आते हैं। पर उपस्थिति सौ-दो सौ से अधिक नहीं होती। हाँ, तमाशे की बात मैं नहीं कहता।"

पटने से उनके प्रस्थान के बाद की चर्चा करते हुए श्री शर्मा ने लिखा है:—

"प्रेमचन्द पटने से प्रसन्न चित्त विदा हुए और मुझे सदा के लिए आत्मीयता के पाश में बाँध गए।.................. × × ×
हर साल पूजा की छुट्टियों में मैं बनारस जाया करता था और उनसे बराबर मिलता। एक बार उन्होंने अगस्त में लिखा था—
"पूजा की छुट्टियाँ तो बहुत दूर हैं, लेकिन अभी से तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ।"

——:❀:——

अक्षय आशीर्वाद

प्रिय वीरेश्वर,

भाई, मैं तो बुरा पड़ गया। इधर दो महीने से ज्यादा हो गए, चारपाई पर पड़ा हुआ हूँ। इस समय दो-तीन मर्जों से मुब्तिला हूँ। लीवर अलग खराब है, पेचिश हो रही है तथा पेट में कुछ पानी आ गया है।

आज 'भारत' में तुम्हारा लेख पढ़वाकर सुना। वहीं तकलीफ में था, लेकिन फिर भी कुछ आराम ही मिला। बड़ा अच्छा लेख है।........

'हंस'........अब मैं जमानत देकर निकाल रहा हूँ। सितम्बर का अंक प्रेस में है। यदि तुम अब अपनी कोई छोटी-सी चीज़ भेज दोगे, तो बड़ा अच्छा होगा। इस अंक में मैटर की बड़ी कमी पड़ रही है। यदि जल्दी ही भेजोगे, तभी उसका कुछ

फ़ायदा होगा। वैसे तो कभी भी तुम्हारी चीज के लिए स्थान है। जैनेन्द्र को मैंने साथ ले लिया है तथा वे ही सब कुछ करेंगे; क्योंकि मैं तो अभी कुछ करने-धरने लायक हूँ नहीं × × × ×

शुभाकांक्षी
प्रेमचन्द'

१८ सितम्बर को एक दूसरा खतः—

प्रिय वीरेश्वर,

तुम्हारी कहानी 'काजल' और पत्र कुछ समय पहले मिले थे। × × × ×
मैं तो अब बेहद कमजोर हो गया हूँ। उठ-बैठ भी नहीं सकता। लेकिन मर्ज घट रहा है। डाक्टर का कहना है कि १५ दिन में मर्ज बिलकुल घट जाएगा। फिर भी अच्छा होने में बड़ा समय लगेगा। × × × ×

आशीर्वाद।

शुभाकांक्षी,
प्रेमचन्द'

उल्लिखित दो पत्र प्रेमचन्दजी ने वीरेश्वर सिंह एम० ए० एल० एल० बी० के नाम लिखे थे। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के प्रति

अपनी असीम श्रद्धा प्रकट करते हुए आपने लिखा है:—

"यह 'आशीर्वाद' कैसा? इससे पहले के पत्र में ऐसी समाप्ति न थी और न मुझे याद पड़ता है कि मेरे और किसी पत्र में उन्होंने ऐसा अचानक, एकाकी ढुलक पड़े हुए एक अश्रु-सा 'आशीर्वाद' लिखा हो। उनके स्नेहपूर्ण पत्र स्वयं ही उनका हृदय व्यक्त कर देते थे·······लेकिन यह 'आशीर्वाद'! आज सोचता हूँ, तो मालूम पड़ता है कि उस अगम अगोचर ने हाथ पकड़कर उनसे यह 'आशीर्वाद' लिखवा लिया था। यह उनका अन्तिम पत्र था।

"यह १६ सितम्बर, सन् ३६ का पत्र था। मैंने उत्तर दिया कि ईश्वर करे आप शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करें।······लेकिन ईश्वर कहाँ? ईश्वर तो इसी कातर मन का भूत है। मौत सामने खड़ी हो, फिर कौन बैठा रह सकता है?·······मैं प्रतीक्षा ही कर रहा था कि अब खबर आती होगी·····खबर आई भी तो अखबार के काले पृष्ठ पर।"

एक बार श्री वीरेश्वरजी ने प्रेमचन्दजी से कहा, "आप 'हंस' के लिए विज्ञापन (Procure) करने के लिए कोई (Compaign) क्यों नहीं करते, आप तो जानते ही हैं कि पत्रों के पाँव यही विज्ञापन हैं। इसमें तो मुझे कोई हर्ज नहीं दिखाई देता। क्या अंग्रेजी, क्या हिंदी—सभी अखबार और मैगज़ीन यह कहते हैं····।"

प्रेमचन्दजी बोले, "भई, 'हंस' साहित्यिक पत्र है। मैं विज्ञापनों

को कीमत मानता हूँ। लेकिन आदर्श लाभ के भरोसे नहीं जीते। हमारा एक ध्येय है और हम उसी ध्येय पर चल रहे हैं। एक खास तरह के (यानी साहित्य-संबंधी) विज्ञापनों के सिवा हम और तरह के विज्ञापन नहीं छाप सकते। हाँ, जो पत्र बाजारू व्यापार के इरादे से निकलते हैं, उनकी बात दूसरी है। यह तो अपने-अपने उद्देश्य की बात है।"